# विट्ठलनाथ कृत विद्वन्मण्डनम् का समीक्षात्मक अध्ययन

( इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध )

निर्देशिका

डॉ० राजलक्ष्मी वर्मा

रीडर

संस्कृत - विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय


प्रस्तुतकर्त्री

आभा वर्मा



इला ,ाबाद

१९९१

# विषयानुक्रमणिका

## विषयानुक्रमणिका

§ड़.§ भगवान् दृश्य हैं

§च§ भगवान् सगुण एव सविशेष हैं

§छ§ परमात्मा सशरीर है किन्तु अनुग्रह से दृश्य है

§ज§ लीला स्थानो का स्वरूप - लीला स्थानो की व्यापकता, लीला स्थान तथा लीला-प्रविष्ट-भक्त ब्रह्मात्मक हैं ।

§झ§ जिस समय लीला होती है, वह काल भी नित्य माना जाता है ।

§ § ईश्वर की नित्य लीला के अधिकारी आधुनिक भक्त भी हैं - लीला-प्राप्ति का हेतु ।

§ट§ प्रभास-क्षेत्र में की गयी लीला ।

षष्ठ -अध्याय - पृष्ठ संख्या २२२ - 270

शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण धारणायें "

§1§ माया की धारणा - माया ब्रह्म की शक्ति है, मायोपाधि के अनादित्व का खण्डन ।

माया एवं ब्रह्म का सम्बन्ध ।

§2§ विट्ठलनाथ की सृष्टि-विषयक मान्यता -

§क§ आविर्भाव -तिरोभाव विचार , आविर्भाव एवं तिरोभाव ब्रह्म के शक्तिरूप हैं, आविर्भाव एव तिरोभाव परस्पर सहस्थिति के विरोधी नहीं है ।

§ख§ वस्तु का अस्तित्व सदाविद्यमान रहने से भूत एवं भावि व्यवहार अप्रामाणिक नहीं है ।

# आभार

दर्शन का अर्थ है जीवन । व्यक्ति जिन सिद्धान्तों , जिन आदर्शों के लिए जीवित रहता है, उसे ही दर्शन कहते हैं । "दर्शन" की परिधि अतिविस्तृत है । विभिन्न विचारधाराओ मे विभक्त भारतीय-दर्शन धर्म, वर्ग, जाति, सम्प्रदाय की सीमाओ से परे है ।

भारतीय-दर्शन के प्रति मैं सदा से ही जिज्ञासु रही, विशेष रूप से वेदान्त-दर्शन के प्रति मेरे मन मे हमेशा ही अगाध-श्रद्धा रही है, जिसके वशीभूत होकर संस्कृत - वाङ्मय के माध्यम से मैंने भारतीय दर्शन शास्त्र का अल्प-ज्ञान प्राप्त किया । तदुपरान्त जब मुझे वैष्णव-वेदान्त की एक प्रमुख शाखा - शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के उद्भट विद्वान् श्री विट्ठलनाथ की पुस्तक " विद्वन्मण्डनम्" पर शोधकार्य करने का अवसर प्राप्त हुआ तो अत्यधिक प्रसन्नता हुई ।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का विषय है "विट्ठलनाथ कृत विद्वन्मण्डनम् का समीक्षात्मक अध्ययन " श्री विट्ठलेश्वर शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के एक महत्वपूर्ण आचार्य थे, उनका यह ग्रन्थ शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय का अद्वितीय ग्रन्थ रत्न है ।

शोधकाल में आयी अनेकानेक बाधाओं को सफलता पूर्वक पार करते हुए अब यह सुअवसर प्राप्त हुआ है कि यह शोध-प्रबन्ध सुसज्जित-कलेवर " धारण करके विद्वज्जनों के समक्ष उपस्थित है ।

अपने इस शोध-प्रबन्ध के सन्दर्भ में मुझे जो अनेकानेक शुभेच्छुओं से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सहयोग प्राप्त हुआ है, उसके लिए उनके प्रति आभार प्रदर्शित करना मेरा कर्त्तव्य है ।

सर्वप्रथम मैं अपनी शोध-निर्देशिका डा० राजलक्ष्मी वर्मा (रीडर, संस्कृत विभाग) के प्रति अपना हार्दिक - आभार प्रदर्शित करती हूँ, जिनके विद्वत्तापूर्ण एवं स्नेहपूर्ण निर्देशन से शोध-प्रबन्ध का विकास नियमित-दिशा में हो पाया है । जिनके प्रोत्साहन एवं भगिनीवत स्नेह ने मुझे कठिन परिस्थितियों में भी निराशा एवं उद्विग्नता से बार-बार उबारा है ।

तदुपरान्त मैं टंकण कार्य करने वाले श्री राजबहादुर पटेल, मे० खन्ना ब्रदर्श मनमोहन पार्क कटरा, इलाहाबाद की भी अत्यन्त आभारी हूँ जिनके अथक प्रयास से अत्यल्प समय मे ही यह शोध-प्रबन्ध टंकित हो पाया है । इसके अतिरिक्त मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय की जनरल लायब्रेरी तथा श्री गंगा नाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के पुस्तकालय के कर्मचारियों के प्रति भी आभारी हूँ ।

अन्त मे इस प्रबन्ध का मुद्रण-कार्य करने वाले " किशान लाल भार्गव" के प्रेस के कार्यकर्त्ताओं के प्रति भी आभारी हूँ, जिन्होंने इस शोध-प्रबन्ध की रूप सज्जा का कार्य किया ।

अन्ततः मैं अपने उन अन्यान्य गुरुजनो, सहयोगियो, परिवार जनो तथा मित्रों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ, जिनके सहयोग के बिना यह शोध-प्रबन्ध विद्वज्जनो के समक्ष न पहुँच पाता ।

सधन्यवा

(मार्च, 1991)
इलाहाबाद

आभा वर्मा

# विषय - प्रवेश

## विषय - प्रवेश

वृन्दावन की पवित्र भूमि पर निम्बार्क के सनकादि अथवा हस सम्प्रदाय के अनन्तर फलने - फूलने वाला द्वितीय वैष्णव-सम्प्रदाय आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत - सम्प्रदाय है । जिसने तत्कालीन उत्तर-भारत, राजस्थान तथा गुजरात प्रान्त को कृष्ण भक्ति की पावन धारा से आप्लावित कर दिया था ।[1]

यद्यपि शुद्धाद्वैत-दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिष्पाठक और भक्ति सेवा-प्रधान पुष्टिमार्ग के मूलप्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य जी थे तथापि उनकी समुचित व्यवस्था और सागोपाग उन्नति का श्रेय उनके कनिष्ठ पुत्र श्री विट्ठलनाथ को है ।[2]

विद्वन्मण्डनम् के रचयिता श्री विट्ठलनाथ वल्लभ के द्वितीय पुत्र थे उनका जन्म प्रयाग के निकट चरणता ﴾चरणाद्रि﴿ मे सवत् 1572 के मार्गशीर्ष महीने में कृष्णपक्ष की नवीं तिथि को हुआ था । विट्ठल का बचपन प्रयाग मे जमुना तट पर स्थित अरैल ग्राम में बीता था । जब वे 15 वर्ष के थे तभी श्री वल्लभा-चार्य ने उनका उपनयन सस्कार करके त्रिदण्ड-सन्यास ग्रहण कर लिया था । एक गाथा के अनुसार वल्लभाचार्य ने विट्ठल को अध्ययन के लिये माध्व-सरस्वती के पास भेज दिया था लेकिन वहाँ पर वह अपना समय श्रीमद्भागवत पढ़ने में

---

1. भागवत-सम्प्रदाय पृ0 365-बलदेव उपाध्याय
2. ब्रजस्थ वल्लभ सम्प्रदाय का इतिहास-प्रभुदयाल मीतल

बिताया इस गाथा में सत्य चाहे कुछ भी हो किन्तु यह निर्विवाद तथ्य है कि अपने पिता की तरह विट्ठलेश्वर भी श्रीमद्भागवत से अत्यधिक प्रभावित थे ।

संवत् 1587 मे वल्ल-ाचाय की मृत्यु के उपरान्त उनके ज्येष्ठ पुत्र 'श्री गोपीनाथ जी उत्तराधिकारी हुए । श्री गोपीनाथ के " साधनदीपिका" और " सेवापद्धति " ग्रन्थ प्राप्त होते हैं । ज्येष्ठ भ्राता तथा उनके पुत्र श्री [illegible] जी की मृत्यु क्रमशः 1590 और 1600 संवत् मे हो गयी ।

इनके बाद विट्ठलेश्वर अपने पिता के उत्तराधिकारी बने तत्पश्चात् सम्प्रदाय के प्रचार एवं प्रसार के लिए अनेकानेक यात्राये की । विशेषतः गुजरात मे वल्लभ सम्प्रदाय के विशेष प्रचार का श्रेय वि ठलनाथ को ही है जहाँ की उन्होंने छः बार यात्रा की थी । गुजरात के अहमदाबाद, कैम्बे तथा गोधरा में मुख्यरूप से उनका भ्रमण तथा सिद्धान्तो का प्रचार-प्रसार हुआ ।

गुजरात के विद्वान् नागो जी भट्ट श्री विट्ठलनाथ से बहुत प्रभावित थे उन्होंने शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय को गुजरात में फैलाने में बहुत सहायता की थी । कहा जाता है कि " सुबोधिनी" का अध्ययन करने के उपरान्त उन्होंने विट्ठल से यह जानना चाहा कि व[illegible]ाचाय की समस्त शिक्षाओं एवं सि[illegible]न्तो का सार तत्व क्या है ? तो इसके उत्तर में विट्ठलेश्वर ने एक सुन्दर श्लोक के माध्यम से कुछ चुने हुए शब्दों में व[illegible]ाचाय के सिद्धान्तों का सार प्रस्तुत कर दिया -

श्री वल्लभाचार्यमते फलं तत्प्राकट्यमत्राव्यभिचारि हेतुः ।
प्रेमैव तस्मिन्नवधोक्त भक्तिस्तत्रोपयोगोऽखिलसाधनाना ॥

इसका तात्पर्य है कि वल्लभाचार्य जी के अनुसार भगवत्प्राकट्य फल है, इसकी अनुभूति का [illegible] साधन प्रेम है और अन्य साधन इस प्रेम को बढ़ाने में उपयोगी हैं ।[3]

नागो जी भट्ट श्री विट्ठल की सगति में केवल गुजरात में ही नही रहे बल्कि विट्ठल के प्रति अपने आदर को प्रकट करने के लिए प्राय: अरैल भी आया करते थे । अत: यह स्पष्ट है कि नागो जी भट्ट शुद्धाद्वैतसम्प्रदाय के सिद्धान्तो से भली भाँति परिचित थे उन्होंने सवत् 1600 के उपरान्त गुजरात मे सम्प्रदाय के प्रचार में महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

गुजराज के ही एक अन्य व्यक्तित्व श्री भैला कोठारी[4] ने भी सम्प्रदाय के प्रचार एव प्रसार में सहायता की ।

श्री विट्ठलनाथ ने अपनी प्रतिभा से मुगलबादशाह अकबर , बीरबल टोडरमल जैसे उच्चपदस्थ व्यक्तियों को प्रभावित किया । इनके पाण्डित्य आकर्षक व्यक्तित्व एवं धार्मिक रूचियो से सम्राट अकबर अत्यधिक प्रभावित हुआ और उसके प्रोत्साहन से पुष्टि सम्प्रदाय की पर्याप्त उन्नति हुई । अकबर ने श्री विट्ठल को सम्मान सूचक न्यायाधीश का अधिकार दिया था तथा " गोस्वामी जी " की पदवी दी थी ।[5]

---

3. According to the view of Vallabhacharya भगवत्प्राकट्य is the फल and the unfailing remedy for it is love for him, while all other Sadhanas are useful in generating this love.
   - Sri Vitthales'vara and his Vidyanandana Page -3
4. Bhaila Kothari of As'vara near Ahmedabad.
5. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त - पृ0 27
   श्रीमती [illegible]धारानी सुखबाल

गोस्वामी विट्ठलनाथ ने वल्लभाचार्य की तरह ही कई बार पूर्व और [illegible] भारत मे यात्रायें करके अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार किया । गुजरात की यात्रा उन्होंने छः बार की थी प्रथम यात्रा संवत् 1600 में अरैल से, दूसरी भी संवत् 1613 मे अरैल से, तीसरी यात्रा 1613 में गद्दा से, चौथी, 1623 में मथुरा से, पाचवी 1631 मे गोकुल से और छठवीं तथा आखिरी यात्रा भी गोकुल से गुजरात के लिए 1638 में की थी । इससे यह सिद्ध होता है कि लगभग 40 वर्षों तक विट्ठल का प्रभाव गुजरात एवं काठियावाड में बना रहा ।

सवत् 1616 में विट्ठलेश्वर ने जगन्नाथपुरी की यात्रा की वहाँ लगभग छः महीने रहे । उन्होंने पुरी की रथयात्रा का दर्शन भी किया । जगन्नाथपुरी के प्रवास काल मे विट्ठल चैतन्यमहाप्रभु के अनु[illegible] के सम्पर्क में भी आये और उनके " स्वामिन्यष्टक" तथा "स्वामिनीस्तोत्र" और अन्य कई छोटे स्तोत्र, चैतन्य की श्री कृष्ण राधा भक्ति से प्रभावित हुए । वल्ल[illegible]य भी " राधा तत्व " से प्रभावित थे उनके [illegible]न्तो में "कृष्ण राधिका " का दर्शन लक्ष्मी नाराय[illegible] के रूप का है किन्तु विट्ठलनाथ जी ने अपनी साधना में माधुर्यभाव को प्रतिष्ठित किया है । श्री राधिका जी की कृपा की कामना करते हुए उन्होंने "चतुःश्लोकी" में कहा है कि यदि वह कृपा करे तो सम्पूर्ण बाधाये दूर हो जाती हैं तथा कृपापात्र मुझ दास के लिए पुष्टिमार्ग और मर्यादामार्ग में दूसरा कौन सा कर्त्तव्य अवशिष्ट रह जाता है । यदि वह मणि

की तरह शुभ्रदतपंक्तियों पर हास्य की प्रभा धारण कर दो चार मधुर वचन बोल दे तो मुक्ति रूपी सीपी से क्या प्रयोजन ?[6]

किन्तु कुछ समय के उपरान्त श्री विट्ठलनाथ जी चैतन्य महाप्रभु के प्रभाव से मुक्त हो गये ।

संवत् 1616 मे जगन्नाथपुरी से लौटकर श्री विट्ठलनाथ अरैल आये । सवत् 1616 से 1619 तक उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ " विद्वन्मण्डन " की रचना की । 1619 के बाद उन्होंने अरैल निवास का परित्याग कर दिया । अरैल से गढ़ा आये उसके बाद 1622 मे गोकुल पहुँचे । गोकुल मे चौरासी दिन तक रहने के बाद विट्ठल मथुरा आ गये ।

अरैल से गढ़ा आकर उन्होंने रानीदुर्गावती को सम्प्रदाय की दीक्षा दी । रानी ने इनको 108 गाँव प्रदान किये तथा मथुरा में उनके निवास के लिए " सतघरा" नामक स्थान बनवाया ।

गुजरात के अतिरिक्त विट्ठलनाथ ने मगध, एवं उत्तर की यात्रायें की । ब्रज की यात्रा अनेक बार की जो कि चौरासी कोस की होती थी, जिसे " परिक्रमा" कहा जाता था । इस यात्राकाल में इन्होंने विभिन्न स्थानों

---

6. कृपयति यदि राधा बाधिताशेषबाधा
   किमपरमवशिष्टं पुष्टिमर्यादियोर्मे ।
   यदि वदति च किञ्चित् स्मेरहासोदितश्री-
   द्विजवरमणिपङ्क्त्या मुक्तिशुक्त्या किम् ।।
   (चतुःश्लोकी में राधा प्रार्थना)
   – वैष्णव साधना और सिद्धान्त
   – स्व डा० भुवनेश्वर नाथ मिश्र "माधव"

पर श्रीमद्भागवत का पारायण किया, यह "पारायण" "बैठक" के नाम से विख्यात है। ऐसी "बैठक" वल्लभाचार्य की चौरासी है तथा विट्ठलनाथ की अट्ठाइस है।

यह ध्यातव्य है कि विट्ठलनाथ संवत् 1629 से मृत्युकाल 1642 तक गोकुल में रहे और यही शास्त्रीय एवं धार्मिक कृत्यों को शेष जीवन करते रहे। 1629 से 1642 तक "सेवापद्धति" के विकास में लगे रहे। विट्ठलेश्वर ने अपने पिता की शिक्षाओं को यथार्थ के धरातल पर लाकर, उसे व्यावहारिक जीवन मे उतारकर उसे एक "दिव्य धर्म" (Divine Religion) का रूप दे दिया। वल्लभ ने विट्ठल के समक्ष दो विकल्प प्रस्तुत किये थे –

" गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत्यक्तुं न शक्यते ।
कृष्णार्थं तद्विनियुञ्जीत कृष्णोऽनर्थस्य मोचकः ।।[7]

प्रथम विकल्प है त्याग का जो कि सबके लिए सम्भव नहीं है, अतः विट्ठल ने द्वितीय विकल्प स्वीकार किया " अत्याग" का, जिसमें समस्त-वस्तु "श्रीकृष्ण" के लिए ही प्रयुक्त होती है अर्थात् सब कुछ कृष्णार्पण कर देना। इस द्वितीय विकल्प मे साधक धीरे-धीरे प्रथम विकल्प अर्थात् अपने लक्ष्य त्याग की ओर अग्रसर हो जाता है। विट्ठलनाथ का सेवामार्ग" इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

---

7. निबन्ध

विट्ठलनाथ द्वारा रचित "।वद्वन्मण्डन " शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय का पाण्डित्य-पूर्ण ग्रन्थ है । इसमें ,,।।।। दार्शनिक सिद्धान्तों का सुन्दर शैली में विवेचन किया गया है ।

इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह वल्लभाचार्य द्वारा प्र।तपा।ित शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का पूरक ग्रन्थ है । श्री विट्ठलनाथ ने श्री वल्लभ के द्वारा स्वीकृत तथ्यों तथा ।वचा।र ों को अपनी स्वीकृति प्रदान की है तथा कहीं-कहीं पुनर्विवेचन तथा पुन:।।।।दन किया है और इसके साथ ही स्पष्ट एव ।।।।।। सिद्धान्तों को उसी रूप में ग्रहण कर लिया है ।

"।वद्वन्मण्डन।" मात्र एक पूरक ग्रन्थ ही नही है अपितु शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के साहित्य के मध्य इस ग्रन्थ की स्थिति सर्वप्रमुख है । वल्लभाचार्य एक महान् दार्शनिक थे उन्होंने अपने सिद्धान्तों की स्थापना पर अधिक बल दिया उनकी प्रवृत्ति प्राय: खण्डन-मण्डन की नहीं थी । स्वपक्ष स्थापना करते हुए जहाँ उन्होंने कोई विषय अस्पष्ट ही छोड़ दिया है अथवा कोई बात संक्षेप में कह दिया है, श्री विट्ठल ने विद्वन्मण्डनम् में तार्किक एवं पारम्परिक दोनों ही दृष्टियों से यथा संभव स्पष्ट किया है ।

ग्रन्थकार ने न्याय, वैशेषिक एव अद्वैतवाद के विभिन्न सिद्धान्तों का विवेचन किया है और उनके ।।।।।ों, जिनसे वे सहमत नही है, का खण्डन करने का प्रयास किया है और अपने द्वारा समर्थित विचारों को तार्किक एवं ।।।।।क दृष्टि से सत्य सिद्ध करने का प्रयास किया है । यह ग्रन्थ पूर्वपक्ष-

खण्डनपूर्वक स्वपक्षस्थापन का महत्वपूर्ण प्रथम ग्रन्थ है ।

विद्वन्मण्डनम् की भाषा शुद्ध एवं सरल है, तथा सर्वनाम का प्रयोग पचुरता से किया गया है । किन्तु ग्रन्थकार ने अनेकानेक उद्धरण विभिन्न स्रोतों से उनका नामोल्लेख किये बिना ही दिया है इससे उनके सिद्धान्तो को सही-सही समझना अत्यन्त कठिन कार्य है ।[8] किन्तु प्रत्येक समस्या का समाधान कहीं न कहीं निहित होता ही है अतः पुरूषोत्तम द्वारा लिखित विद्वन्मण्डन की टीका सुवर्णसूत्र एक महत्वपूर्ण पथ-प्रदर्शिका है जो कि भाष्य का अर्थविबोधन ही नही कराती बल्कि कठिन एवं महत्वपूर्ण कथनों के सन्दर्भ में नयी जानकारी भी प्रदान करती है ।

" सुवर्णसूत्र" के अतिरिक्त गिरिधर जी की "हरितोषिणी" तथा भट्टागगाधर शास्त्री की " गगाधरभट्टी " टीकायें भी अर्थविबोध कराने में पूर्णतया सक्षम हैं । " सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष " पुस्तक भी शोध कार्य मे अत्यन्त सहायक रही ।

विट्ठलनाथ कृत विद्वन्मण्डनम् को हम पतञ्जलि कृत महाभाष्य की भाँति मान सकते हैं जिस प्रकार पाणिनि द्वारा रचित " अष्टाध्यायी " को

---

8. The Language is dialectical in style and the abundance of the use of pronouns as also the innumerable references to different sources without naming them make it rather difficult to understand - The Philosophy of Vallabhacarya Page - 242

Mrs. Mridula I. Marfatia.

को स्पष्ट करने के लिए पतजलि ने " महाभाष्य" रचा उसी प्रकार वल्लभाचार्य दारा प्रस्थापित सिद्रान्तों के दृढ़ीकरण एव स्पष्टीकरण हेतु [illegible] ने विद्वन्मण्डन की रचना की ।

बादरायण व्यास ने "ब्रह्मसूत्र की रचना की । छठीं शताब्दी ई0 पू0 की बौद्धों एवं जैनियों की धार्मिक क्रान्ति की लहर के पश्चात् जब हिन्दू धर्म नष्टप्राय हो गया था तब आठवी शती मे शंकराचार्य ने इसकी पुर्नस्थापना की और ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य भी लिखा । अब तक प्राप्त भाष्यों में शांकरभाष्य सर्वाधिक प्राचीन है । परवर्ती दार्शनिकों रामानुज , निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभ ने शंकराचार्य के सिद्रान्तों का खण्डन किया । वल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलेश्वर भी उसी पथ के अनुगामी हैं । विद्वन्मण्डन' का प्रारम्भ ही ब्रह्म के स्वरूप के सन्दर्भ में परस्पर विरोधी कथन से होता है। ब्रह्म निर्विशेष है अथवा सविशेष ? शंकराचार्य के ब्रह्म विषयक सि[illegible]न्तों का खण्डन ग्रन्थकार ने पूरी दृढ़ता से किया है कि ब्रह्म एक साथ निर्गुण एवं सगुण नही हो सकता इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्बवाद, आभासवा जीव-ब्रह्म सम्बन्ध अंशांशिभाव, जीव का अणुत्व तथा ब्रह्म की लीला जैसे विषयों का तर्क-वितर्क के साथ विवेचन प्रस्तुत किया गया है ।

श्री विट्ठलनाथ के दारा रचित यह ग्रन्थ समस्त दार्शनिक पहलुओं को अपने में समेटे हुए नहीं है । वस्तु के विवरण एव वर्णन की तारतम्यता हमें दृष्टिगत नहीं होती । यथा ब्रह्म स्वरूप के सन्दर्भ में बिना कोई विवरण दिये

हुए उन्होंने सविशेषत्व एवं निर्विशेष॰- का वर्णन प्रारंभ कर दिया। इसके अतिरिक्त प्रमाण-विचार, भक्ति, मोक्ष के सन्दर्भ में अलग से कोई विवेचन नही है, क्योंकि श्री विट्ठल यह मानकर चलते हैं कि जिन सिद्धान्तों की विवेचन उनके पिता अपने ग्रन्थों में सफलता पूर्वक कर चुके हैं उसकी पुनरावृत्ति करना " सिद्ध" को " पुनः सिद्ध" करने के समान है और ऐसी स्थिति में "सिद्धसाधन दोष" की आपत्ति होती है। " भक्ति" का विशद विवेचन उन्होंने अपने ग्रन्थ "भक्ति हंस" में कर दिया है, संभवतः इसी कारण उन्होंने इसका विवेचन "विद्वन्मण्डनम्" मे नहीं किया है।

जिस विषय का विवेचन उन्होंने अथवा उनके पिता श्री वल्लभनेकर दिया है उसके विषय में प्रायः कह उठते हैं कि -

" - - - - - इत्येतत्सर्वं व्याससूत्र भाष्ये विस्तृत पितृचरणैः विस्तर भियाऽत्र न लिख्यते। " 9

" विद्वन्मण्डनम्" ग्रन्थ में श्री विट्ठलेश्वर लीला की धारणा के विषय में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। उनकी लीला-विषयक धारणा उनके मौलिक चिन्तन को व्यक्त करती है। लीला का जैसा विवेचन श्री विट्ठलेश्वर ने प्रस्तुत किया है वैसा वर्णन श्रीमद् वल्लभाचार्य ने भी नहीं किया।

इसके अतिरिक्त श्री विट्ठल ने आविर्भाव -तिरोभाव का विचार करते समय कहा कि वस्तु सदा रहती है, आविर्भूत मात्र हो जाने से

---

9. विद्वन्मण्डन , पृ0 28 द्रष्टव्य

मानव की उसमें सत् बुद्वि होती है और तिरोहित हो जाने पर उसमें असत् बुद्वि होती है । उनका यह विवेचन सांख्याभिमत विचारधारा पर आश्रित है ।

इस प्रकार श्री विट्ठलनाथ का योग दान भी " शुद्धाद्वैत - सम्प्रदाय" में कम नही है वे श्री वल्लभ के छाया- मात्र नही थे बल्कि उनका भी पृथक् व्यक्तित्व था ।

प्रस्तुत शोध- प्रबन्ध में विषय की पूर्णता को ध्यान में रखते हुए अर्थात् विषय अधूरा न प्रतीत हो इस लिए वल्लभाचार्य जी एवं श्री विट्ठलनाथ जी दोनों की विचार धाराओं को [illegible] रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

गोस्वामी विट्ठलनाथ ने " विद्वन्मण्डनम् " में " स्थूणा निखनन न्याय " की शैली अपनाते हुए श्री वल्लभ के द्वारा स्थापित सिद्धान्तों को दृढ़ता प्रदान की है ।

एक बार पुनः कहने को उद्यत हूँ कि श्री विट्ठल की विचारधारा नितान्त मौलिक नहीं थी, दार्शनिक सिद्धान्तों के लिए वे श्री वल्लभ पर पूर्णतया आश्रित थे किन्तु इस कारण उनकी प्रतिभा एव विद्वत्ता को कदापि कम करके नहीं आंका जा सकता ।

विद्वन्मण्डन में प्रभावशाली विचार एवं सशक्त युक्तियाँ बहुत ही सुन्दर शैली एवं प्रवाहपूर्ण रीति से वर्णित है और यह आकर्षक विवेचनात्मक निबन्ध अथवा लेख अपने नाम के सर्वथा अनुरूप ही है। [10]

---

10 Noble thoughts and powerful arguments are depicted in very graceful and flowing language, and this charming treatise well diserves the name 'Vidvanmandan', the ornament of the leanred.'

Sri Vitthales'vara and his Vidvanmandan

page 25.

# प्रथम - अध्याय

## " भारत मे दार्शनिक - चेतना का विकास "

भूमिका –

मनुष्य स्वभावतः बुद्धिमान प्राणी है, विधाता द्वारा रचित इस नानाविध सृष्टि में मानव ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जिसका व्यवहार बुद्धि से सञ्चालित है, शेष प्राणियों का व्यवहार उनकी मूल प्रवृत्तियों द्वारा संचालित होता है। स्रष्टा की इस अचरज भरी सृष्टि का दर्शन करके स्वाभाविक रूप से मानव के मन मे एक कौतूहल जाग उठता है कि इस संसार का रचयिता कौन है ? यह मानव जीवन किस हेतु है ? इसका लक्ष्य क्या है ? इत्यादि। मानव ने उत्पन्न होते ही अपने चतुर्दिक आच्छादित वातावरण के विषय में सोचना प्रारम्भ किया था। चिन्तन का यह क्रम निरन्तर बना रहा, सभ्यता और सस्कृति की कड़ियाँ बनती गयीं और इसी के परिणामस्वरूप हम आज की अतिविकसित सामाजिक, राजनैतिक एव सांस्कृतिक अवस्था को प्राप्त कर पाये हैं।

मानव अपनी जिज्ञासु-वृत्ति के फलस्वरूप युक्तिपूर्वक विचार कर सकने में समर्थ हुआ। युक्तिपूर्वक तत्वज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को ही "दर्शन" कहते हैं। चिन्तन के कारण तर्क बुद्धि प्रभावित हुई, इस प्रभाव के कारण अनेक सैद्धान्तिक मान्यतायें निर्धारित होने लगी और विभिन्न विचारकों की रूचियो एव चिन्तन शक्ति के अनुरूप विविध दर्शन पद्धतियों का विकास होता रहा। चिन्तन से ज्ञान का परिष्कार होता है, विचारधारा परिपक्व होती है, अन्धविश्वासों से मुक्ति मिलती है यही प्रक्रिया दर्शन का आधार है और इसके विकास से ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र विस्तृत हो पाया है।

" जीवन का सादापन, [illegible]र, प्रेम, अन्तःकरण की प्रशान्त भावना, सत्यप्रियता, ससार को पारमार्थिक कारणों से मिथ्या समझना, दैवी शक्ति में श्रद्धा भक्ति और आत्म समर्पण, जीवन की उलझनों को सुधारने में तत्परता, परम-सुख तथा आनन्द की प्राप्ति के लिए पूर्ण उत्सुकता और अदम्य-उत्साह आदि गुण साधारण रूप से प्रत्येक भारतीय के विभिन्न कार्यों में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से पाये जाते हैं ।"[1]

"दर्शन" शब्द की उत्पत्ति "दृश्" धातु से हुई है, जिसका अर्थ है " देखना" । "दृश्यते अनेने इति दर्शनम् " इस व्युत्पत्ति के अनुसार सस्कृत में "दर्शन" का अर्थ है " जिसके द्वारा देखा जाये । "

" दर्शन" शब्द का अर्थ भारतीय मनीषियो को "तत्व-साक्षात्कार" ही अभिप्रेत है । सामान्यतः लोग "दर्शन" का तात्पर्य तार्किक सर्वेक्षण समझते हैं परन्तु दार्शनिक-विचार की आरम्भिक अवस्था मे दर्शन शब्द का प्रयोग हमें इस अर्थ में नही मिलता क्योकि उस समय दार्शनिक ज्ञान प्रायः आभ्यन्तर दृष्टि परक था । संभवत इस शब्द का प्रयोग बहुत चिन्तन के उपरान्त उस विचार-पद्धति के लिए किया गया है जो अन्तर्ज्ञान से उद्भूत होती हुई भी युक्तियों के आधार पर प्रमाणित होती है । संक्षेप में हम कह सकते हैं कि "दर्शन" एक ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान है, जो आत्मा के समक्ष सम्पूर्ण रूप मे प्रकट होता है ।

---

1. " भारतीय-दर्शन" - डॉ0 उमेश मिश्र

वैदिक-काल -

भारत में दार्शनिक चेतना का विकास सभ्यता के इतिहास के साथ ही प्रारम्भ हो गया था । आर्य संस्कृति की उर्ध्वगामी आध्यात्मिक चेतना का इतिहास अत्यन्त विस्तृत है । आत्मा एवं परमात्मा जैसे दुर्बोध तत्वो की पहेली को सुलझाने का प्रयास मानव ने लगभग चार हजार वर्ष पहले ही प्रारम्भ कर दिया था ।

हमारे देश के लोगों के धार्मिक तथा दार्शनिक विचारो का मानव-भाषा मे सर्वप्रथम वर्णन "ऋग्वेद" में प्राप्त होता है । "ऋग्वेद" प्राचीनतम ग्रन्थ है । ऋग्वेद में धर्म को तीन स्तरों पर प्रतिपादित किया गया है - प्राकृतिक बहुदेववाद, एकेश्वरवाद और अद्वैतवाद । हमारे पूर्वज आर्य अत्यधिक सहृदय थे । अपनी सहृदयता के कारण ही वे सूर्योदय, सूर्यास्त, चन्द्रमा, तारे, वृक्ष, समुद्र तथा अनन्त-आकाश, को दैवी घटना मानते थे । वैदिक धर्म का प्रारम्भिक रूप प्रकृति-पूजा का था । ऋग्वेद में प्रायः देवताओं को माता-पिता तथा मित्र के रूप में सम्बोधित किया गया है, किन्तु यह सम्बोधन अनौपचारिक न होकर औपचारिक था । वैदिक ऋषियो ने देवताओं की कल्पना मनुष्य रूप में की थी और उन्हे समस्त मानवीय गुणों से अलंकृत किया था । देवता तथा मानव मे भेद यही था कि देवता अमर तथा सर्वव्यापी थे, उनमे मनुष्योचित दुर्बलताये भी नहीं थी । इसके विपरीत मनुष्य मरणशील एवं सीमित शक्तियों वाला था । वह देव-कृपा का अभिलाषी था तथा मनुष्य का उत्थान उसकी

कृपा द्वारा ही संभव था ।

प्रारम्भिक वैदिक चिन्तन का स्वरूप अत्यन्त सरल एवं स्थूल था । क्लिष्ट तात्विक - विश्लेषण, वैराग्य तथा मोक्ष की भावना का इसमे लेशमात्र नहीं था । उस समय देवोपासन , युद्ध मे विजयी होने के लिए तथा अच्छी फसल, सन्तान की प्राप्ति इत्यादि भौतिक सुख सुविधाओ की प्राप्ति के लिए ही की जाती थी । यज्ञादि के द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता था । इस युग में वैदिक-कर्मकाण्ड अपनी सीमाओं में ही था, उसने विधि -निषेधों मे जकड़े सुनियोजित कर्मकाण्ड का रूप नहीं लिया था ।

मनुष्य-हृदय की अभिलाषा बहुदेववाद से सन्तुष्ट न हो सकी । ऋषियों ने देवों की बहुलता से घबराकर यह खोज करना प्रारम्भ किया कि " सर्वशक्तिमान एव सर्वश्रेष्ठ देवता कौन हैं ? एव " कौन सा देव यथार्थ है ? इस अनुशीलन के फलस्वरूप तत्कालीन ऋषियों ने अन्तत. यह तथ्य खोज निकाला कि परमसत्ता एक ही है, जिसकी अग्नि, वरूण, इन्द्र रूप से अनेक संज्ञायें हैं । ऋग्वेद मे वर्णित है -

" यथार्थ सत्ता एक ही है, विद्वान् लोग उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते हैं, यथा अग्नि, यम और मातरिश्वन् आदि ।"[2]

इस प्रकार ऋग्वैदिक धर्म साधारण बहुदेववाद से आरम्भ होकर एकेश्वरवाद के रूप में परिवर्तित हो गया । एकेश्वरवाद ही

---

2. ऋग्वेद 1/164/46 द्रष्टव्य

परवर्ती " अद्वैतवाद " का आधार स्तम्भ था । वैदिक विचारकों ने देवताओं का वर्गीकरण पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं आकाश वर्ग में कर दिया । उनकी इस विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति ने ही अद्वैतवाद को जन्म दिया । आठवी शताब्दी के महान् विचारक शंकर का अद्वैतवाद कोई नयी दार्शनिक पद्धति नहीं थी अपितु इसकी नींव तो शताब्दियों पूर्व वेदो मे हीपरमसत्ता को एकमात्र मानकर रख दी गयी थी । जिस पर परवर्ती [illegible] ने अपने विचारो के परिष्कृत रूप के माध्यम से अद्वैत, [illegible]ाद्वैत , तथा शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय की विशाल इमारत खड़ी की ।

" परमसत्ता" एक है किन्तु उसे अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है । " पुरोहित और कवि लोग शब्दजाल के द्वारा उस प्रच्छन्न सत्ता को, जो केवल एक ही है, नानात्व का रूप दे देते हैं ।[3]

<u>ब्राह्मण काल -</u>

ऋग्वैदिक काल के सरल धर्म को ब्राह्मण काल में विधि-निषेध की श्रृंखलाओं में जकड़ दिया गया । विटनी के अनुसार "प्रारंभिक वैदिक काल में यज्ञ अभी तक मुख्यतः बन्धनरहित, भक्ति परक कर्म था, जो किसी विशेषाधिकार प्राप्त पुरोहित वर्ग के सुपुर्द नही था - - - - - । यज्ञ कर्त्ता यजमान की ही स्वतन्त्र भावनाओं के ऊपर आश्रित होते थे और उनमें ऋग्वेद तथा सामवेद के ही मन्त्रो का उच्चारण रहता था जिससे कि यजमान का मुख, हाथों से देवताओं के निमित्त हृदय की भावना से प्रेरित होकर आहुति देते समय बद्ध न रहे - - - - - - । ज्यों ज्यों समय बीतता गया कर्मकाण्ड ने भी अधिकाधिक

---

3. ऋग्वेद 1.0.114/द्रष्टव्य ।

औपचारिक रूप धारण कर लिया और अन्त मे एक सर्वथा निर्दिष्ट एव सूक्ष्म रूप में यजमान के क्षण-क्षण के व्यापार को तारतम्य में नियन्त्रित कर दिया गया । "[4]

औपनिषदिक-काल में दार्शनिक चेतना का विकास -

यज्ञों में कर्मकाण्ड की अधिकता के कारण उसका सम्पादन करना सामान्य मनुष्य की पहुँच के बाहर हो गया । अतः तब एक ऐसी विचारधारा ने जन्म लिया जो इन बातों के स्थान पर चिन्तन, मनन और ध्यान को उचित मानती थी और इस प्रकार औपनिषदिक -विचारधारा का प्रचार एव प्रसार हुआ ।

उपनिषदो को वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग माना जाता है जिनमे हमें वैदिक चिन्तन का चरमोत्कर्ष मिलता है । इसी कारण उपनिषदो को " वेदान्त" की संज्ञा दी जाती है । उपनिषद् शब्द से तात्पर्य " उस विद्या से है जिससे अविद्या का निश्चित रूप से नाश हो, जो मोक्ष की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को "ब्रह्म" या "विद्या" के समीप ले जाकर उसका साक्षात्कार करा दे तथा जो ससार के बन्धनों को शिथिल कर दे । "[5]

उपनिषदो को भारतीय दर्शन-शास्त्र की नींव का पत्थर माना जा सकता है । "हिन्दू विचारधारा का एक भी ऐसा महत्वपूर्ण अग नहीं है, जिसमें

---

4. अमेरिकन ओरियण्टल सोसायटी प्रोसीडिंग्स - खण्ड 3, पृष्ठ 304, (भारतीय दर्शन - डॉ० राधाकृष्णन, पृ० 51 से संकलित)
5. केनोपनिषद् , शाँकर भाष्य, पृष्ठ । (भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण - डा० संगमलाल पाण्डेय, पृ० 38 से सगृहीत )

नास्तिक नामधारी बौद्धमत भी आता है, जिसका मूल उपनिषदों मे न मिलता हो ।"[6]

उपनिषदों का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि उनके द्वारा आगे आने वाली कई सदियों तक की दार्शनिक गतिविधियों का दिशा-निर्धारण हुआ ।

वेदों के तीन प्रमुख भाग हैं - कर्मकाण्ड, उपासना एवं ज्ञान । ब्राह्मण एवं संहिता में कर्मकाण्ड का वर्णन है, आरण्यक् मे मुख्यतः उपासना वर्णित है । उपनिषदों को ज्ञान काण्ड कहा जाता है । इनका प्रमुख सिद्धान्त "अनुभूत्यात्मक अद्वैतवाद" है । उपनिषद् कर्मकाण्ड एवं हिंसक यज्ञों के विरोधी हैं ।

मुण्डकोपनिषद् मे दो प्रकार की विद्या बतायी गयी है - परा एवं अपरा विद्या । चारों वेद तथा षड्वेदांग अपराविद्या हैं तथा जिसके द्वारा परमात्मा का ज्ञान होता है वह परा विद्या है । अतः यह स्पष्ट है कि उपनिषदों का प्रमुख ध्येय अद्वय-ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाले अद्वैत-सिद्धान्त की स्थापना करना है ।

उपनिषदों के सिद्धान्तों को बादरायण ने " वेदान्तसूत्रों" के माध्यम से एक संहत् और क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया जिसे " ब्रह्मसूत्र" अथवा" वेदान्त सूत्र " कहते हैं ।

---

6. ब्लूमफील्ड - " द रिलीजन आफ द वेदा"- पृ0 51
{भारतीय दर्शन डॉ0 राधाकृष्णन, पृ0 111 से संग्रहीत}

हिन्दू - दर्शन मे उपनिषद्, वेदान्त सूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता प्रस्थानत्रयी कहलाते हैं । परवर्ती लगभग समस्त वेदान्तियों ने अपने विशिष्ट-मतों की स्थापना करने हेतु इन पर भाष्यो की रचना की है । "ब्रह्मसूत्र" पर जो प्राचीनतम भाष्य उपलब्ध है वह शंकराचार्य का "शारीरक भाष्य" है ।

कर्मकाण्ड परक वैदिक धर्म की प्रतिक्रिया-

औपनिषदिक दर्शन के उपरान्त तत्कालीन आध्यात्मिक क्षेत्र में अत्यधिक उतार-चढ़ाव हुए । धार्मिक असन्तोष की भावना तो जनता बहुत दिनो से पनप रही थी किन्तु छठीं शती ई0 पू0 मे इसने विकराल रूप धारण कर लिया । वैदिक धर्म अब जनसाधारण के लिए अग्राह्य बन गया, इसका कारण यह था कि वह अत्यधिक जटिल कर्मकाण्ड के बन्धनो मे जकड़ गया था । स्वार्थी एव पाखण्डी लोगों के हाथ में ही धर्म की बागडोर सीमित हो चली थी । अब वैदिक धर्म में जटिलता एव य[illegible]ता की वृद्धि हो गयी थी। आराधक एव आराध्य के मध्य " पुरोहित" का होना अनिवार्य था । कर्मकाण्ड की प्रक्रिया इतनी जटिल एव गोपनीय थी कि हर कोई उसे समझ नहीं सकता था, अत. समाज में ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया होनी प्रारम्भ हो गयी । इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अनेक आस्तिक एव नास्तिक दार्शनिक सम्प्रदायों का उदय हुआ । जिनमें बौद्ध, जैन, चार्वाक तथा भागवत धर्म प्रमुख थे ।

इनमें चार्वाक दर्शन भौतिकवादी था, वे ईश्वर, परलोक, स्वर्ग नरक तथा आत्मा का कोई अस्तित्व नहीमानते। उनका सिद्धान्त था-"यावज्जीवेत्

सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृत पिवेत् " अर्थात् जब तक जीओ, सुख से जीओ, ऋण करके भी घी पियो ।

नैतिकता वादी जैन एवं बौद्ध धर्म -

जैन एवं बौद्ध धर्म अहिंसा परक थे । ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक आते-आते वैदिक यज्ञो एव कर्मकाण्डो पर किये जाने वाले व्यय लोगो के आलोचना का विषय बन गये । धीरे-धीरे भौतिकता मे वृद्धि होने से तथा लोगों की आवश्यकतायें बढ़ जाने के कारण, वैदिक-व्यवस्था के प्रति असन्तोष बढ़ने लगा था । कृषि कार्यों के लिए पशुओ की उपयोगिता बढ़ जाने से सामान्य जन उनके यज्ञो मे मारे जाने के विरूद्ध हो गये । जिस कालमे वैदिक धर्म अपनी जटिलताओं तथा अनेकानेक अव्यावहारिकताओं के कारण समयानुकूल नहीं चल पा रहा था, उसी समय जैन एवं बौद्ध धर्मो ने सरल, स्पष्ट तथा अतिव्यावहारिक धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके ब्राह्मण धर्म को अपना दृष्टिकोण बदलने के लिए विवश कर दिया ।

जैन एव बौद्ध धर्मो ने अहिंसा तथा सदाचार पर बल दिया । इनकी मान्यता थी कि धर्म किसी भी जाति, सम्प्रदाय तथा वर्ग की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होता । मुक्ति के लिए किसी भौतिक माध्यम की आवश्यकता नहीं होती तथा उपास्य एवं उपासक के बीच कोई पुरोहित नहीं होता ।

गौतम बुद्ध ने मध्यम-मार्ग का उपदेश दिया वे निर्वाण अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिए कठोर साधना एव काया क्लेश में विश्वास नहीं रखते थे, जबकि

महावीर ने मोक्ष के लिए घोर तपस्या तथा शरीर त्याग को आवश्यक बताया। इन धर्मों में प्रतिक्रिया के आवेश में वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड का विरोध तो हुआ किन्तु धर्म के दार्शनिक और भावात्मक पक्षों पर ध्यान नहीं दिया गया। जैन एव बौद्ध दोनो ही नैतिकतावादी धर्म थे, जो केवल आचार-प्रणाली सुधारने पर ही ध्यान देते रहे। मानव की [illegible]त्मक आवश्यकताओ को पूरा न कर पाने के कारण जैन एव बौद्ध धर्म की भी प्रतिक्रिया प्रारभ हो गयी।

इस प्रकार अत्यन्त कठिन वैदिक कर्मकाण्ड, जैन एव बौद्ध धर्म के महिमामण्डित नैतिक मूल्यों के बिल्कुल ही विपरीत एक ऐसे धर्म की रूप रेखा स्पष्ट होने लगी जिसने उपनिषदों के ब्रह्म को मानवीय-संवेदना के निकट लाते हुए उसे एक साकार ईश्वर का रूप दे दिया।

औपनिषदिक दर्शन का पुन· प्रादुर्भाव -

जैन एव बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप एक बार पुन. औपनिषदिक दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ। मूलतः यह दर्शन वेदान्त पर आधारित था। सभी दर्शनो का समन्वय वेदान्त में ही होता है, वेदान्त दर्शन उपनिषदो का सार है और ज्ञान की [illegible] है। " सभी शास्त्रो की प्रवृत्ति आत्मज्ञान को प्रकट करने के लिए है। अत आत्मविद्या या वेदान्त ही सभी शास्त्रो का प्रयोजन है।"[1]

---

1. "यदर्थ सर्वशास्त्राणां प्रवृत्तिरतिविस्तरा।
आत्मज्ञानावतारार्थः सर्वशास्त्र समुद्यमः ।।"
— सुरेश्वर, बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य-वार्त्तिक
— 1/4/405

वेदान्त का मूल ग्रन्थ बादरायणकृत ब्रह्मसूत्र है । वेदान्त दर्शन के प्रमुख विद्वान् बादरायण ,ग।ड५। एव शंकराचार्य हैं ।

वेदान्त-दर्शन के इतिहास में आदि शंकराचार्य ही वह प्रथम विद्वान् हैं, जिन्होने प्रस्थानत्रयी पर अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार युगप्रवर्तनकारी भाष्य लिखकर आने वाली शताब्दियो मे ।वद्ज्जनो के मानस पर अपनी ज्ञान गरिमा का सिक्का जमा दिया ।

<u>केवलाद्वैती शंकराचार्य की दार्शनिक विचार धारा -</u>

जिस समय शंकराचार्य का आविर्भाव हुआ ऍ 788 ई0 मे ऍ उस समय भारतीय संस्कृति का सूर्य जहाँ एक ओर चार्वाक , जैन, बौद्ध आदि अवैदिक नास्तिक वितण्डावादो के सघन मेघों से आच्छन्न हो गया था वहीं दूसरी ओर मुस्लिम , शक एवं हूणो के आक्रमण से जर्जरित भारत के सस्कृति-सूर्य के सम्मुख सदा के लिए अस्तंगत हो जाने का भय उपस्थित होने लगा था ।

ऐसे कठिन समय में शकर ने किसी नवीन दर्शन को जन्म नहीं दिया प्रत्युत उपनिषद् काल से निरन्तर प्रवाहित अद्वैत परक चिन्तन धारा को, जो कि किसी सीमा तक अपनी पवित्रता एवं विशुद्धता को भी खो चुकी थी, उसे पुनः विजातीय विचार कल्मष से रहित कर विशुद्ध पुण्यतम रूप में प्रवाहित किया ।

शंकराचार्य का यह दार्शनिक सिद्धान्त " केवलाद्वैत" के नाम से जाना जाता है । इस दर्शन में एकमात्र सच्चिदानन्द ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता

मानी जाती है। परब्रह्म ही अपनी अनिर्वचनीय माया शक्ति से युक्त होकर "ईश्वर" बनता है। यह नामरूपात्मक प्रपञ्च रज्जुसर्प के समान ब्रह्म का विवर्तमात्र है, ब्रह्म स्वरूप से पृथक् इसकी कोई सत्ता नही है, सृष्टि अतात्त्विक है तथा ब्रह्म का स्रष्टृत्व भी अतात्त्विक है। अज्ञान के कार्यभूत कारण शरीर, सूक्ष्मशरीर और स्थूल शरीर की उपाधि से युक्त होकर वह सच्चिदानन्द ब्रह्म ही " जीव" कहलाता है। इस प्रकार "जीव" भी परमार्थत ब्रह्म ही है। तत्वज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर जीव अज्ञान-जन्य शरीरत्रय की उपाधि से विनिर्मुक्त होकर अपना "ब्रह्मत्व" पहचान लेता है।

कालान्तर में इन्हीं सिद्धान्तों की आधारशिला पर विशाल वाङ्मय-प्रासाद बना। परवर्ती सभी दार्शनिको ने "ब्रह्मसूत्र" के शांकरभाष्य " की आलोचना करते हुए अपने मतो की स्थापना की। शंकर अपने आप मे विद्वत्ता के मानदण्ड बन गये।

दर्शन का मूल मनुष्य की आवश्यकताओ मे निहित है, जो विचारधारा मनुष्य की सहज-मौलिक प्रवृत्तियों की युक्तियुक्तता को प्रदर्शित नहीं कर सकती उसे जनसाधारण से स्वीकृति भी नहीं प्राप्त हो सकती। शंकर का दृष्टिकोण अत्यन्त विस्तृत और उदार था तथापि उनका सिद्धान्त इतना सूक्ष्म हो गया था कि दार्शनिकता की चरम उपलब्धि होने पर भी वह सामान्य मानव जीवन का ध्येय नहीं बन सका। शंकर का अमूर्त, निर्गुण ब्रह्म एक ऐसी धारणा है जो सामान्य व्यक्ति की पहुँच से बाहर था। शंकराचार्य ने जगत् को आभासमात्र कहा है, उन्होंने साधारण मनुष्य के मन के उस तथा कथित सम्बल की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया – जब निर्बल मानव संकट में पड़कर आर्तनाद कर उठता

हो जाता है । शकर ने भक्त को जीवन की विषम अवस्थाओं मे इस प्रकार के सम्बल का जो वास्तविक अनुभव हुआ है उसके प्रति न्याय नही किया । यही कारण था कि सामान्य मानव शकर के दर्शन मे उपेक्षित रह गया था ।

ज्ञान से शकर का अभिप्राय मात्र सैद्धान्तिक ज्ञान से नहीं था किन्तु फिर भी उनके शिष्यों ने उनके सिद्धान्तो को क्लिष्ट एवं दुर्बोध रूप प्रदान कर दिया उन्होंने धर्म को हृदयगत कोमल भावना न समझकर उसे मस्तिष्क का अर्थात् बुद्धिवादी स्वरूप प्रदान किया । उनके शिष्यो ने भक्ति के स्थान पर साधना-पद्धति को यान्त्रिक-मन्त्रोच्चारण " अहं ब्रह्मास्मि" तक ही सीमित कर दिया । इस तरह जन सामान्य ब्रह्म की अद्वैतपरक विचारणा से पूर्णतया विरक्त हो गया ।

<u>ब्राह्मण धर्म को पुन॰ प्रतिष्ठित करने का प्रयास -</u>

मीमासक कुमारिल भट्ट ने, जो कि शकर के समकालीन भी थे, नैतिकतावादी धर्म पद्धतियों जैन एव बौद्ध से समाज मे ह्रासोन्मुख ब्राह्मण धर्म को पुनः पूर्व प्रतिष्ठा दिलाने का प्रयास किया । परन्तु मीमासकों का यह प्रयत्न निरर्थक ही रहा, ब्राह्मण धर्म - जो कि अपनी जड़ों से उखड़ चुका था पुनः अपनी जड़े न पकड़ सका ।

भास्कराचार्य भेदाभेदवादी थे । उनके अनुसार जिस प्रकार अग्नि घास को मिटा देती है उसी प्रकार अभेद-भेद को मिटा नहीं देता, दोनो ही एक समान यथार्थ हैं । भास्कर ने ब्रह्मसूत्र पर "भास्कर-भाष्य" टीका लिखी

शैव, शाक्त एव वैष्णव धर्मों का उत्थान -

शकराचार्य के निर्विशेषवा ी दर्शन की प्रतिक्रिया स्वरूप ईश्वरवा ी सम्प्रदायो अर्थात् वैष्णव, शाक्त और शैव धर्मों का उत्थान प्रारम हुआ । इन धर्मों के अपने विशिष्ट धर्मग्रन्थ थे - प~चरात्र सहिता, शैवागम तथा तन्त्र ।

इन धर्मों मे भक्ति को ज्ञान और कर्म की अपेक्षा अधिक महत्व प्रदान किया गया भक्त का ज्ञानी होना आवश्यक नहीं वरन् यहाँ तो ईश्वर के प्रति अनन्य-प्रेम तथा आत्मसमर्पण ही अपेक्षित है । यह भक्ति एव प्रपत्ति का मार्ग जाति, वर्ण, वर्ग तथा सामाजिक स्तर की संकीर्णता के बन्धन से दूर सर्वप्राप्य एव सर्व सुलभ था । यह जगत् ईश्वर की कृति है और समस्त मनुष्य उसकी कृतियाँ हैं । उस ईश्वर की सन्तान होने के कारण सभी बराबर हैं ।

शैव धर्म में "शिव" को इष्टदेव मानकर उनकी उपासना किये जाने का विधान है । "शिव" के उपासक "शैव" कहे जाते हैं । सृष्टि, स्थिति, सहार, तिरोभाव और अनुग्रह - ये परम-शिव के प~च -कृत्य हैं ।

इसी तरह " शक्ति" को इष्ट देवी मानकर पूजा करने वालों का सम्प्रदाय " शाक्त" कहा जाता है। "शाक्त" और "शैव" का क्रियात्मक रूप एक जैसा ही था, भेद केवल इतना था कि शाक्तों ने आदिवासियों के कुछ विधि विधानों को भी साथ मे ले लिया था, जैसे वे शकर की पत्नी "शक्ति" की उपासना करते थे । ऐसे ईश्वर का विचार जिसके स्त्री और

बच्चे हों, एक असभ्यतापूर्ण विचार था जो कि ईश्वर का मानवीकरण ही था ।

वैष्णव मत का इतिहास लगभग महाकाव्यकाल से ही प्रारभ हो जाता है । ऋग्वेद मे विष्णु को जगत् का परम देवता कहा गया है, उसका स्थान आकाश मे माना गया है ।[8] ऐसा धर्म जिसमें पूजा का विषय "भगवान्" अथवा " भगवत्" हो, उसे "भागवत" धर्म कहते हैं । "भागवत धर्म" के प्रवर्तक वृष्णि वशी कृष्ण थे जिन्हे वसुदेव का पुत्र होने के कारण वासुदेव कृष्ण कहा जाता है । महाभारत काल मे वासुदेव कृष्ण का समीकरण विष्णु से किया गया तथा भागवत धर्म वैष्णव धर्म बन गया । भागवत एव वैष्णव धर्म मे कोई अन्तर नही है, दोनों एक ही हैं ।

शाक्त, शैव एव भागवत अथवा वैष्णव धर्मों में से भागवत - धर्म सर्वाधिक लोकप्रिय हुआ क्योकि शाक्त धर्म धीरे धीरे तांत्रिक प्रक्रियाओ में जकड़ गया और शैव धर्म मात्र दक्षिण तक ही सीमित रहा केवल भागवत धर्म ही ऐसा था जिसका समस्त भारत में प्रचार प्रसार हुआ और जिसने विभिन्न प्रकार की विचारधाराओ से समन्वित होकर व्यापक वैष्णव अथवा भागवत धर्म का रूप ग्रहण कर लिया जिसे आज हम हिन्दू धर्म के नाम से जानते हैं । यह वैष्णव धर्म अपने स्वरूप मे समन्वयात्मक एव लचीला है तथा अनेक विश्वासो का सगम स्थल है । भक्त नाभादास ने अपने एक छप्पय में कहा है कि जैसे भगवान्

---

8. विष्णो परमं पदम् । ऋग्वेद ।/22/20/

के चौबीस अतवार हुए वैसे ही कलियुग मे भगवान् के चार-व्यूह प्रकट हुए हैं जो क्रमश. रामानुज , मध्व, निम्बार्क तथा विष्णुस्वामी हैं ।[9] जिन्होंने क्रमशः विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत तथा शुद्धाद्वैत दर्शन का प्रवर्तन किया ।

इन चार सम्प्रदायो के अतिरिक्त भी अनेक वैष्णव सम्प्रदाय हैं जैसे गौड़ीय सम्प्रदाय, रामानन्द-सम्प्रदाय, राधावल्लभी सम्प्रदाय, सहजिया-वैष्णव सम्प्रदाय । इन सम्प्रदायों में गौड़ीय सम्प्रदाय का महत्व अधिक है । इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक महाप्रभु चैतन्य हैं । चैतन्य के दार्शनिक मतवाद का नाम है" अचिन्त्य-भेदाभेदवाद । "

## वैष्णव दर्शन का स्वरूप -

उपर्युक्त समस्त वैष्णव वेदान्तियों ने माना है कि ब्रह्म सगुण है, जगत् सत्य है और जीव ज्ञाता, कर्त्ता, भोक्ता है, वह अणु एवं नित्य है, वह ब्रह्म का वशवर्ती है तथा संख्या मे अनेक है । माया ब्रह्म की शक्ति है ।

वैष्णवदर्शन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि इसमें ईश्वर भक्ति के द्वारा मोक्षप्राप्ति होती है, इस बात पर बल दिया गया है । वैष्णव सिद्धान्तो का श्रीमद्भगवद्गीता में, जो कि महाभारत का एक अंश है, सर्वोत्तम विवेचन मिलता है । गीता की तरह वैष्णव वेदान्त भी ज्ञान कर्म तथा भक्ति का समन्वय स्थापित करते हुए मात्र भक्ति के द्वारा मुक्ति प्राप्त कराने का आह्वान करता है ।

---

9. "चौबीस प्रथम हरि वपु धरे त्यों चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट"
   - भक्त नाभादास

सामान्यत: वैष्णवमत अपनी सरलता एव स्पष्टता के कारण जनसाधारण तक पहुँच गया । अहिंसा, दया, त्याग, भक्ति वैष्णव मत के मुख्य लक्षण थे । वैष्णव भक्त नरसी मेहता ने तो यहाँ तक कहा है कि " जो दूसरो की पीड़ा को जाने वही वैष्णव है ।"[10]

दक्षिण भारतीय सन्त, अड्यार एवं आलवार-

भागवत पुराण मे एक स्थल पर कहा गया है कि "कलियुग में दक्षिण भारत में नारायण के उपासक सख्या में अधिक होंगे । " दक्षिण-भारत में दो तरह के सन्त हुए एक तो शैव सन्त हुए, जिन्हे "अड्यार" कहा जाता था । द्वितीयत. वैष्णव सन्त हुए, जो " आलवार" के नाम से प्रसिद्ध हुए । " आलवार" का अर्थ है -

" अध्यात्म ज्ञान रूपी सागर में गोता लगाने वाला व्यक्ति" ये सन्त भगवन्नारायण के उपासक थे । इनके जीवन का एक ही उद्देश्य था नारायण के प्रेम मे स्वयलीन होना तथा अपने उपदेश द्वारा दूसरों को लीन करना ।

आलवार भक्ति के उत्कर्ष का समय ईसा की सातवीं शती से नवीं शती के आरम्भ तक माना जा सकता है । वैष्णव साहित्य में बारह आलवारों का उल्लेख मिलता है। पराशर भट्ट ने इनका नाम निर्देश इस प्रकार किया है - सरयोगी, भूतयोगी, महद्योगी, भक्तिसार, शठकोप, मधुरकवि, कुलशेखर, विष्णुचित्त और गोदा, भक्तांघ्रिरेणु, योगिवाह एवं परकाल । आलवार कहलाने वाले इन सन्त कवियों ने लगभग चार हजार गीत तमिल भाषा मे लिखे थे जो

---

10. "वैष्णव जन तो तेणे कहिये रे,
जो पीर परायी जाणे रे ।। नरसी मेहता

" नालायिरप्रबन्धम् " के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

आलवारा का साहित्य श्री विष्णु के प्रति अनन्य प्रेम से ओत-प्रोत है । यद्यपि कि आलवार-साहित्य दार्शनिक विवेचन से रहित है तथापि यह भक्ति की आत्मविस्मृत तन्मयता लिये हुए है । यही आत्म विस्मृत प्रेम परवर्ती प्रपत्ति भावना का आधार बना इसके अतिरिक्त स्वय दार्शनिकता के प्रभाव से मुक्त होते हुए भी आलवारों ने कृष्ण भक्ति धारा अर्थात् परवर्ती वैष्णव दर्शन को प्रभावितकिया है ।

आलवार विष्णु के उपासक थे उनका विचार था कि भगवत्कृपा ही मुक्ति का एकमात्र साधन है और इस भगवत्कृपा की प्राप्ति हेतु जीव को किसी साधन की अपेक्षा नहीं है वरन् आत्म विस्मृत आत्म समर्पण ही पर्याप्त है । आलवार सन्तों ने अपने जीवन से इस सत्य की घोषणा की थी कि भगवद्भक्ति करने तथा भगवान् के दरबार में पहुँचने का अधिकार सबको है । ब्राह्मण और शूद्र, पुरूष और स्त्री, बालक तथा वृद्ध - सबका समान अधिकार है ।

आलवार भक्तो की सबसे बड़ी विशेषता उनका ईश्वर के प्रति अनन्य प्रेम करने का ढंग है । वे भगवान् को अपना प्रेमी तथा स्वय को उनकी प्रेमिका के रूप में स्वीकार कर उनकी भक्ति करते हैं । आलवारों का यह धर्म सभी जाति और सभी श्रेणी के मनुष्यों के लिए खुला हुआ था ।

दक्षिण भारतीय आचार्य 'रम्पर। -

आलवार भक्तों के परान्त दक्षिण भारत में कुछ आचार्य हुए जिन्होंने

विष्णुभक्ति की प्रेरणा उक्त आलवार गीतों से ली और भागवत धर्म के प्रचार को उत्तर-भारत में भी ले गये ।

आचार्य परम्परा मे गौरव और प्राचीनता की दृष्टि से नाथमुनि ही सर्वप्रथम गणनीय हैं इनका समय 824 ई0 से 924 ई0 है । ये शठकोपाचार्य की शिष्यपरम्परा में थे । इन्होंने आलवारो के द्वारा विरचित तमिल भाषा मे निबद्ध लुप्तप्राय भक्तिपूरित काव्यों का पुनरूद्धार किया, श्री रंगम् के प्रसिद्ध मन्दिर मे भगवान् के सामने इनके गायन की व्यवस्था की ।

इस प्रकार एक ओर नाथमुनि का कार्य था प्राचीन तमिल भक्ति ग्रन्थों का उद्धार तथा प्रचार और दूसरी और इनका काम था नवीन संस्कृत ग्रन्थो की रचना कर वैष्णवमत का प्रचार करना । नाथमुनि का "न्यायतत्व" नामक ग्रन्थ विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय का प्रथम मान्य ग्रन्थ माना जाता है और सच कहे तो विशिष्टाद्वैत दर्शन का सूत्रपात इन्होंने ही किया था ।

नाथमुनि के पुत्र ईश्वर मुनि पिता जैसी ख्याति अर्जित नहीं कर सके परन्तु ईश्वरमुनि के पुत्र यामुन मुनि ने महापण्डित का सम्मान प्राप्त किया था । यामुनमुनि अपने तमिल नाम " आलवन्दार" के नाम से विख्यात थे । यामुनमुनि ने वैष्णव साहित्य की रक्षा के लिए कठिन प्रयास किया तथा यह सिद्ध करने की कोशिश की कि उनका तात्पर्य वेदों ही के समान है । यामुनाचाय ने सिद्धित्रय, आगम-प्रामाण्य, गीतार्थ संग्रह, महापुरूषनिर्णय, काश्मीरागमप्रामाण्य, स्तोत्ररत्न, आदि विविध ग्रन्थों की रचना की थी ।

यामुनाचार्य के बाद स्वनामधन्य रामानुजाचार्य हुए । रामानुज न केवल दक्षिण मे अपितु उत्तर भारत मे भी अपने विशिष्टाद्वैत दर्शन के सिद्धान्तो के कारण विख्यात हो गये ।

रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत दर्शन -{ श्री सम्प्रदाय }

रामानुज का सिद्धान्त उनके अनेक पूर्ववर्ती तथा परवर्ती विद्वानों की तुलना में अधिक दार्शनिक तथा सयमित है । उन्होंने वेदों के आडम्बरपूर्ण कर्मकाण्डों को खण्डित करने की चेष्टा कहीं नही की । उनका मुख्य उद्देश्य भक्ति के द्वारा मोक्ष प्राप्ति के सिद्धान्त का प्रचार करना था । उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र में प्रतिपादित मूल तथ्य भी यही है ।

रामानुज के महनीय उद्योगों मे वैष्णव धर्म का दक्षिण मे अत्यन्त प्रचार तथा प्रसार हुआ तथा इनकी मृत्यु के डेढ़ शतक के भीतर ही श्री वैष्णवो में दो स्वतन्त्र मत तेंगलायी { दक्षिणी सम्प्रदाय } और बड्गलायी { उत्तरी सम्प्रदाय } उठ खड़े हुए ।

तेंगलायी मत " तमिल-प्रबन्धम् " की ही अक्षुण्णता मानता था तथा सस्कृत ग्रन्थो में श्रद्धा नहीं रखता था, दूसरा मत बड्गलायी, दोनों भाषाओं मे निबद्ध ग्रन्थों को प्रमाणकोटि मे मानता था परन्तु वह संस्कृताभिमानी था ।

पिल्लई लोकाचार्य तेंगलायी सम्प्रदाय के प्रधान प्रतिनिधि थे, उनका कथन है कि भगवत्कृपा अहेतुक है शरणागति ही एकमात्र मोक्षोपाय है जिसमे कर्म का अनुष्ठान कथमपि वांछनीय नहीं होता ।

रामानुज का प्रभाव हिन्दू धर्म के परवर्ती इतिहास में बराबर पाया जाता है । मध्व, वल्लभ, चैतन्य, रामानन्द, कबीर, नानक द्वारा प्रचारित धार्मिक आन्दोलन तथा बगाल का ब्राह्म धर्म का सुधारवादी सगठन रामानुज के ईश्वरवादी आदर्शवाद से पूर्णतया प्रभावित था ।

रामानुज का दार्शनिक सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत शकर के अद्वैतवाद से भिन्न है । इस दार्शनिक प्रस्थान मे पदार्थ तीन हैं – चित्, अचित् तथा ईश्वर । चित् का अभिप्राय है भोक्ता जीव से, अचित् का भोग्य जगत् से तथा ईश्वर का अन्तर्यामी परमेश्वर से । जीव तथा जगत् भी वस्तुत नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं, तथापि ईश्वर के इन दोनों के भीतर अन्तर्यामी रूप से विद्यमान होने के कारण ये उसके अधीन रहते हैं । इसीलिए चित् तथा अचित् ईश्वर के शरीर या प्रकार माने जाते हैं ।

रामानुज के मत मे "निर्गुण" वस्तु की कल्पना असंभव है उनके अनुसार ईश्वर या ब्रह्म एक सगुण तत्व है । जहाँ उपनिषदों में उसे निर्गुण बताया गया है वहाँ केवल यह अर्थ है कि उसमे जीवो के तुच्छ गुण नहीं होते हैं वह अनन्त गुणो से युक्त है वही सृष्टि की रचना करता है, उसका पालन करता है तथा अन्ततोगत्वा उसे अपने में लीन कर लेता है । [illegible]ों में ब्रह्म के लिए जहाँ " नेति नेति " का प्रयोग हुआ है, उसके विषय में रामानुज का मत है कि यह कार्य ब्रह्म का वर्णन न होकर कारण ब्रह्म का वर्णन है जहाँ वह अव्यक्त रहता है । ब्रह्म वस्तुत· एक अविकृत अथवा निर्विकार सत्ता है जो अपने अंशों में विकार होने के बाद भी स्वयं विकृत नहीं होता है । सृष्टि उसके लिए कौतुक

मात्र है जिससे वह स्वयं लिप्त नहीं होता है । सृष्टि की विविधता को सत्य मानते हुए भी रामानुज ब्रह्म के अद्वैतत्व पर बल देते हैं । विकार ब्रह्म के अगभूत चित् तथा अचित् तत्व हैं केवल उन्ही में उत्पन्न होता है । ईश्वर इस परिवर्तन से प्रभावित नही होता क्योकि उसके गुण जीव तथा प्रकृति से भिन्न होते हैं । ब्रह्म ज्ञान, आनन्द आदि श्रेष्ठ गुणो से युक्त है ।

## मध्वाचार्य का द्वैतवाद- ॥ ब्रह्म सम्प्रदाय ॥

रामानुज के बाद के बाद के वेदान्तियों मे मध्वाचार्य का नाम प्रसिद्ध है । जिन्होंने ब्रह्म का समीकरण विष्णु से स्थापित कर द्वैतवाद का प्रतिपादन किया । इसमे विष्णु तथा जीव-जगत् दोनों की सत्ता को स्वीकार करते हुए इन्हे परस्पर भिन्न माना गया है । मध्व कहते हैं कि ईश्वर सृष्टि का केवल निमित कारण है ।

माध्ववेदान्त द्वैतवाद पर आश्रित है इस मत में भेद वास्तविक माना जाता है । यह भेद पाँच प्रकार का होता है -

1- ईश्वर से जीव का भेद

2- ईश्वर का जड़ से भेद

3- जीव का जड़ से भेद

4- एक जीव का दूसरे जीव से भेद

5- एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़ पदार्थ से भेद । ॥विष्णु तत्व निर्णय ॥

यह भेद अनादि और सत्य है । यह मिथ्या, औपाधिक या मायाकृत

नहीं है । माध्वमत में दस पदार्थ माने जाते हैं - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, अभाव, शक्ति, विशिष्ट, अंशी और सा दृश्य ।

परमात्मा साक्षात् विष्णु हैं, वह जगत् का निमित्त कारण है । वह अनन्त गुणों से युक्त हैं । भगवान् के आठ कार्य हैं - सृष्टि, स्थिति, सहार, नियम, अज्ञान या आवरण, बोधन, बन्ध और मोक्ष । भगवान् के सब अवतार पूर्ण हैं । लक्ष्मी भगवान् की शक्ति हैं । मध्वाचार्य शक्ति और शक्तिमान् में भेद की सत्ता मानते हैं । जीव अज्ञान, दुःख, भय, मोह आदि से युक्त ससारी है । जीवों की संख्या अनन्त है ।

माध्वमत की तत्वमीमासा सामान्यतः द्वैतवादी कही जाती है ।

निम्बार्काचार्य का भेदाभेदवाद - {सनकादि सम्प्रदाय}

वैष्णव सम्प्रदायों में तीसरा निम्बार्क का भेदाभेदवाद था । निम्बार्क की सम्मति है कि जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी । भारतीय दार्शनिक जगत् मे यह भेदाभेद सिद्धान्त नितान्त प्राचीन है । शकराचार्य के पहले ही नही अपितु बादरायण से भी पूर्व औडुलोमि तथा आश्मरथ्य भेदा भेदवादी थे । इस सम्प्रदाय का मूल प्रामाणिक ग्रन्थ निम्बार्क रचित " वेदान्तपारिजात सौरभ " नामक वेदान्त -भाष्य है ।

श्रुति, ब्रह्मसूत्र और स्मृति के आधार पर निम्बार्क का सिद्धान्त यह है कि " ब्रह्मचतुष्पाद" है । उदाहरणार्थ - ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दस्वरूप हैं । वह निर्गुण, अद्वितीय, अक्षरादि नामों से प्रख्यात हैं ।

सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही इस जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय का आधार है । ब्रह्म स्वय ही जगत् में चित् तत्व के रूप मे व्याप्त है । ब्रह्म के जिन अनन्त रूपों के प्रत्येक अश में उनके चिदंश प्रविष्ट हुए हैं उसी अनन्त रूप का नाम ही जगत् है ।

निम्बार्क के मतानुसार चित्, अचित् और ब्रह्म – ये ही तीन तत्व हैं ।

रूद्र – सम्प्रदाय, विष्णु स्वामी –

भारत की विख्यात वैष्णव सम्प्रदाय-चतुष्टयी में चौथा सम्प्रदाय रूद्र के नाम से विख्यात है । इस सम्प्रदाय के मुख्य-प्रवर्तक थे विष्णु स्वामी तथा इसके मध्ययुगीन प्रतिनिधि थे श्री वल्लभ । रूद्र सम्प्रदाय के संस्थापक विष्णु स्वामी के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नही है, किन्तु सामान्यतः उनका समय 12वी या 13वीं शताब्दी माना जाता है । दीर्घकाल तक "रूद्र -सम्प्रदाय" लुप्त था, वल्लभाचार्य ने इसे नवजीवन प्रदान किया ।

वैष्णव धर्म को लोकप्रिय बनाने मे इन चार आचार्यों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया । इन आचार्यों की परम्परा में तीन और आचार्य हुए – रामानन्द, वल्लभ और चैतन्य । रामानन्द वल्लभ और चैतन्य के पूर्ववर्ती थे । रामानन्द न केवल आचार्य थे अपितु समाज-सुधारक भी थे । उनका समय 14वी शती का प्रारंभ माना जाता है ।

रामानन्द के समय मे समाज की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। छुआछूत, जाति भेद ने समाज को प्रदूषित कर रखा था। ऐसे समय मे रामानन्द ने लक्ष्मी - नारायण के स्थान पर राम को उपास्य मानकर उनके मर्यादित स्वरूप का वर्णन करके पथ भ्रष्ट समाज का दिशा निर्देश किया। रामानन्द ने जातिप्रथा का बहिष्कार करते हुए समाज के निम्नतम वर्ग के व्यक्ति के लिए भी भक्ति के द्वार खोल दिये।

शुद्धाद्वैत दर्शन - वल्लभाचार्य -

16वीं शताब्दी में विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर श्रीवल्लभाचार्य बैठे उन्होंने विष्णु स्वामी के सिद्धान्तो से प्रेरणा लेकर शुद्धाद्वैत तथा भगवदनुग्रह अथवा पुष्टि द्वारा प्राप्त प्रेम भक्ति के मार्ग की स्थापना की।

वल्लभाचार्य का जन्म। 1478 खिष्टाब्द' में वैशाख कृष्णा एकादशी को मध्य प्रान्त के रायपुर जिले के चम्पारण्य नाम स्थान पर हुआ। इनके पिता लक्ष्मण भट्ट कृष्ण यजुर्वेदीय तैलंग ब्राह्मण थे, माता का नाम यलम्मागारू था। लक्ष्मण भट्ट काशी में ही हनुमानघाट पर रहते थे, परन्तु यवनों के आक्रमण के भय से काशी छोड़कर दक्षिण जा रहे थे तभी रास्ते में उनकी पत्नी ने पुत्र को जन्म दिया। वल्लभ के समस्त संस्कार, शिक्षा, दीक्षा, पठन-पाठन काशी में ही हुए। गोपाल कृष्ण इनके उपास्य थे। फलतः विद्यावृद्धि के साथ-साथ इनकी आध्यात्मिकता मे भी वृद्धि हुई और उन्होंने श्रीमद्भागवत के आधार पर एक

नवीन भक्ति सम्प्रदाय को चलाया जो "पुष्टिमार्ग" के नाम से विख्यात हुआ। दार्शनिक जगत् में इनका मत " शुद्धाद्वैत " के नाम से प्रसिद्ध है।

वल्लभाचार्य ने अनेक ग्रन्थों की रचना की यथा - अणुभाष्य, सुबोधिनी, तत्वार्थदीपनिबन्ध, [illegible] दाभेद, कृष्ण प्रमामृत- सिद्धान्त रहस्य, सेवाफलविवृत्ति, भक्तिवर्द्धिनी आदि अब भी इस सम्प्रदाय मे बड़े ही श्रद्धा एवं आदर से अधीत और आलोचित होते हैं।

शुद्धाद्वैत परम्परा वल्लभ के साथ ही समाप्त नहीं हो गयी अपितु यह प्रवाह बहुत काल तक प्रवाहित रहा।

वल्लभ के प्रयाण के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र गोपीनाथ जी उत्तराधिकारी हुए, किन्तु थोड़े ही समय मे उनका भी स्वर्गवास हो गया, इसके पश्चात् वल्लभ के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलेश्वर ने परम्परा का निर्वाह किया। इस सम्प्रदाय की वृद्धि, विस्तार तथा व्यवस्था का श्रेय विट्ठल को है। इनकी विद्वत्ता तथा गम्भीर शास्त्रानुशीलन के सूचक इनके द्वारा रचित प्रौढ़ ग्रन्थ हैं यथा - विद्वन्मण्डनम्, भक्ति हंस, भक्ति-निर्णय, निबन्ध प्रकाश टीका, सुबोधिनी टिप्पणी, श्रृगार रस मण्डन तथा अणुभाष्य के अन्तिम डेढ़ अध्याय।

विट्ठलनाथ के अतिरिक्त शुद्धाद्वैत परम्परा में अेनक विद्वान् आविर्भूत हुए हैं यथा [illegible] के पचम पुत्र रघुनाथ ने " भक्तिहंस " पर "भक्ति तरंगिणी" टीका लिखी। बालकृष्ण भट्ट ने "प्रमेय रत्नार्णव", शुद्धाद्वैत मार्तण्ड प्रकाश, निर्णयार्णव, सेवा कौमुदी आदि ग्रन्थो का प्रणयन किया। कल्याणराय के पुत्र

गोपेश्वर विट्ठल के शिष्य थे, इनके द्वारा रचित भक्ति मार्तण्ड, वादकथादि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं । विट्ठल के द्वितीय शिष्य पीताम्बर ने वल्लभाचार्य द्वारा प्रणीत, तत्वदीपनिबन्ध प्रकाश की "आवरण भंग" टीका लिखी । पीताम्बर के पुत्र पुरूषोत्तम ने "अणुभाष्य" पर अपनी विद्वज्जन प्रिय टीका" पकाश" की रचना की । उन्होंने विद्वन्मण्डनम् पर "सुवर्णसूत्रम्" नाम की टीका लिखी ।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय की कीर्ति की वृद्धि करने वाले महनीय ग्रन्थ गिरिधर कृत शुद्धाद्वैत मार्त्तण्ड, हरिराय कृत ब्रह्मवाद, गोपालकृष्ण भट्ट कृत ब्रह्मवाद विवरण, तापीश द्वारा रचित यथावलम्बन टीका ब्रह्मवादार्थ, एव भट्टबलभद्र का सिद्धान्त सिद्धापना है । इसके अतिरिक्त प्रस्थान रत्नाकर, सिद्धान्त मुक्तावली आदि ग्रन्थ भी ख्यातिलब्ध हैं ।

किन्तु यह ध्यातव्य है कि रामानुजीय अथवा माध्व सम्प्रदाय की तरह वल्लभ अथवा शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय का साहित्य व्यापक एव पाण्डित्य पूर्ण नहीं है । इस सम्प्रदाय के सर्वप्रमुख आचार्य वल्लभ ही थे परवर्ती विद्वानो ने उनके ही विचारो का पल्लवन किया है ।

दार्शनिक जगत् मे वल्लभाचार्य का सिद्धान्त "शुद्धाद्वैत" के नाम से प्रसिद्ध है। शकराचार्य के अद्वैतवाद से पृथकता प्रदर्शित करने के लिए ही आचार्य ने अद्वैत के साथ शुद्ध विशेषण सयुक्त कर दिया । उन्होंने अद्वैत के साथ पृथकता सूचक विशेषण इसलिए लगाया कि अद्वैतमत में माया शबलित ब्रह्म जगत् का कारण माना गया है परन्तु इस मत में माया से अलिप्त अर्थात् माया सम्बन्ध से रहित

नितान्त शुद्ध ब्रह्म जगत् का कारण माना जाता है ।[11]

आचार्य जी ने अपने ग्रन्थ "तत्वदीपनिबन्ध " मे ब्रह्म विषयक उल्लेख करते हुए लिखा है कि - ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द स्वरूप है , वह व्यापक एव सर्वशक्तिमान् है, वह स्वतन्त्र, सर्वज्ञ एवं निर्गुण है ।[12]

किन्तु इसी ग्रन्थ में आगे वह स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि "ब्रह्म सगुण है वह सजातीय , विजातीय और स्वगत भेदो से रहित है ।[13]

वल्लभाचार्य ब्रह्म को विरूद्धधर्माश्रयी कहते हैं, वह एक ही समय निर्गुण भी रहता है और सगुण भी । वह "अणोरणीयान्" तथा " महतोमहीयान्" दोनों है । वह कर्तृत्व से युक्त है तथा घनीभूत सैन्धववत् वाह्याभ्यन्तर सदा एकरस रहता है ।

ईश्वर, जीव एव जगत् को वे अभिन्न मानते हैं जीव ब्रह्म का अंश है, वह ब्रह्म से वैसे ही आविर्भूत होता है जैसे अग्नि से विस्फुलिंग । वल्लभ मत में जीव एवं जगत् की उत्पत्ति के स्थान पर आविर्भाव तथा प्रलय के स्थान पर तिरोभाव मानते हैं ।

---

11. "माया सम्बन्ध रहितं शु[illegible]मित्युच्यत बुधैः ।
 कार्यकारणरूप हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम् ।।"
 - शुद्धादैत मार्त्तण्ड

12. तत्वदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, पृ0 22। द्रष्टव्य

13. सजातीय विजातीय स्वगत द्वैत वर्जितम् ।
 सत्यादि गुण साहस्रैर्युक्तमोत्पत्तिकैः सदा ।।
 - त॰ दी॰ निबन्ध, पृ0 22।

जीव ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है । ब्रह्म अपने सच्चिदानन्द धर्मों मे से आनन्दांश को जब तिरोहित कर देता है तब वह जीव रूप में आविर्भूत होता है, जब वह आनन्द और चित् अंशो को तिरोहित कर देता है तब वह जगत् के रूप मे आविर्भूत होता हैं ।

ब्रह्म जगत् के रूप मे परिणमित होकर भी अविकृत रहता है जिस प्रकार सुवर्ण कुण्डलादि रूपो मे परिणमित हो जाता है किन्तु उसमे कोई विकार नही आता वह सुवर्ण ही बना रहताहै वैसे ही ब्रह्म भी अविकृत रहता है।

माया ब्रह्म की शक्ति है, ब्रह्म की शक्ति होने के कारण माया असत् नही है । ब्रह्म अपनी इस शक्ति के द्वारा अपने समस्त कार्य सम्पादित करता है । ब्रह्म एव माया के बीच अभेद सम्बन्ध है। ब्रह्म माया से किसी प्रकार प्रभावित नही होता ।

वल्लभाचार्य जी यह मानते हैं कि सर्वोच्च मुक्ति ज्ञान से नही अपितु भक्ति से प्राप्त होती है, भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वसुगम मार्ग है । उनके इस भक्ति मार्ग को "पुष्टिमार्ग कहते हैं । पुष्टि का अर्थ है पोषण । यह भगवान् का अनुग्रह है । यह शब्द भागवत -पुराण के पोषण शब्द से ही निकला है ।[14]

वल्लभाचार्य जी यह मानते हैं कि जीव के ब्रह्मभूत होने पर ही मुक्ति होती है । माया से ग्रस्त जीव ईश्वर के कृपा के बिना मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता । मोक्ष का मुख्य - साधन भक्ति ही है । वल्लभाचार्य भी मोक्ष को

---

14. पोषणं तदनुग्रहः । भागवत पुराण 2/10

त्रिविध ताप की आत्यन्तिक [illegible] के पश्चात् परमानन्द की स्थिति मानते हैं ।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय का विशद वर्णन करने के पश्चात चैतन्य महाप्रभु के विषय में संक्षिप्त-विवरण इस प्रकार है ।

अचिन्त्यभेदाभेदवादी, चैतन्य महाप्रभु -

वल्लभ सम्प्रदाय के साथ ही साथ चैतन्य का भी प्रादुर्भाव हुआ, उनका जन्म 1485 ई0 मे नवद्वीप बंगाल मे हुआ था ।

चैतन्य ने किसी सुनियोजित दार्शनिक मतवाद का प्रचार नही किया वे तो राधा कृष्ण की प्रेममयी भक्ति का ही प्रचार करते थे । उन्होंने नवधा भक्ति के अतिरिक्त, दसवी प्रेमा-भक्ति भी बतायी ।

तात्त्विक सिद्धान्त की दृष्टि से चैतन्य सम्प्रदाय अचिन्त्य भेदाभेदवादी' कहलाता है । उनके मतानुसार परमतत्व एक है, वह तत्व सच्चिदानन्द स्वरूप, अनन्त शक्ति से सम्पन्न तथा अनादि है । जैसे रूप रसादि गुणो का आश्रय एक पदार्थ दुग्ध पृथक्-पृथक् इन्द्रियो से पृथक्-पृथक् रूप में दिखायी देता है उसी प्रकार एक ही परमतत्व उपासना भेद से अलग-अलग प्रकार से अनुभूत होता है। परमतत्व की अनन्त शक्ति अचिन्त्य है इसलिए वह एकत्व , पृथकत्व, अंशत्व तथा अंशित्व धारण करने में समर्थ है ।[15]

---

15. लघुभागवतामृत, श्लोक 50 पृ0 124/125
- रूपगोस्वामी

इस मत की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें "भक्ति को अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचाकर " रस" की कोटि में ला दिया गया हैं ।

चैतन्य के दो प्रमुख शिष्य रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी । रूप गोस्वामी के द्वारा रचित प्रमुख ग्रन्थ थे - लघुभागवतामृत, उज्जवल नीलमणि, भक्ति - रसामृतसिन्धु आदि । सनातन गोस्वामी ने बृहद्भागवतामृत, हरिभक्तिविलास तथा भागवत के दशम स्कन्ध पर वैष्णव तोषिणी टीका नामक ग्रन्थ लिखे । इस परम्परा में तीसरा नाम जीव गोस्वामी का आता है जो सनातन के छोटे भाई वल्लभ के पुत्र थे । इन्होंने भागवत पर क्रम सन्दर्भ टीका तथा भक्तिरसामृत सिन्धु पर दुर्ग संगमनी नामक टीका लिखी ।

इस प्रकार रामानुज से लेकर जीव गोस्वामी तक वैष्णव धर्म एव दर्शन मे एक ही स्वरूप दृष्टिगत होता है, वह है नारायण की प्रेम विह्वला भक्ति । इन समस्त वैष्णव विचारको ने " भक्ति " को ईश्वर तक पहुँचने का सर्वसुलभ एव सर्व श्रेष्ठ मार्ग के रूप में ही प्रदर्शित नही किया अपितु उसे स्वयं में परम साध्य रूपा भी स्वीकार किया है ।

## द्वितीय - अध्याय

## गोस्वामी विट्ठलनाथ, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

शुद्धाद्वैत परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ी श्री विट्ठलनाथ श्री वल्लभाचार्य के पुत्र थे । शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय की वृद्धि, विस्तार एव व्यवस्था का श्रेय श्री विट्ठलेश्वर को है । श्री विट्ठलनाथ के जीवन की कतिपय घटनाओ का उल्लेख " विषय-प्रवेश " मे किया गया है ।

श्री विट्ठल न केवल एक आचार्य एवं शास्त्रज्ञ थे अपितु एक भक्त, एक साधक और यहाँ तक कि वह एक सगीतज्ञ भी थे । उत्तर-भारत मे कृष्ण-भक्ति के दृढ़ीकरण मे श्री विट्ठलेश्वर का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

वल्लभाचार्य जी के दो पुत्र थे, प्रथम श्री गोपीनाथ जी और द्वितीय श्री विट्ठलनाथ जी । श्री विट्ठलेश्वर का जन्म " चुनार" के निकट सवत् 1572 में हुआ था । उन्होंने अल्पायु मे ही शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त कर लिया था ।

जब विट्ठलेश्वर मात्र पन्द्रह वर्ष के थे तभी वल्लभाचार्य ने " त्रिदण्ड - संन्यास" धारण कर लिया । वल्लभाचार्य की मृत्यु के उपरान्त उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गोपीनाथ जी उत्तराधिकारी बने किन्तु गोपीनाथ जी ने अधिक आयु नही पायी । कुछ ही दिनो के बाद उनका भी देहान्त हो गया ।

अपने पिता श्री वल्लभाचार्य की तरह विट्ठलनाथ जी भी गृहस्थ थे । उन्होंने एक सुखद गृहस्थ - जीवन व्यतीत किया । श्री विट्ठल ने गृहस्थी

मे रहते हुए भी परमार्थ-चिन्तन किया । ईश्वर की कृपा से उनका परिवार बहुत बड़ा था । उन्होंने दो विवाह किये, प्रथम पत्नी रूक्मिणी से उन्हें छ. पुत्र और चार पुत्रियाँ थी , उनके नाम क्रमश. इस प्रकार हैं - गिरिधर गोविन्द, बालकृष्ण, वल्लभ, रघुनाथ और यदुनाथ,. चार पुत्रियाँ क्रमशः शोभा, यमुना, कमला और देविका । गढ़ा की रानी दुर्गावती के आग्रह पर विट्ठलनाथ ने दूसरा विवाह पद्मावती से किया, जिनसे एक मात्र पुत्र घनश्याम जी थे । विट्ठलनाथ के ज्येष्ठ भ्राता श्री गोपीनाथ के पुत्र श्री पुरूषोत्तम जी अल्पायु मे ही मर गये किन्तु उनकी दो पुत्रियाँ लक्ष्मी एव सत्यभामा श्री विट्ठल के कुटुम्ब के साथ " नवनीत प्रिय जी " की सेवा मे लगी रहती थी । इतने बड़े परिवार का स्वामी होने पर भी उन्हे " सासारिक दुर्बलतायें स्पर्श तक नहीं कर पायी थी, इस सन्दर्भ मे एक उदाहरण इस प्रकार है - विट्ठलेश्वर के पौत्र श्री देवकीनन्दन जी कहते हैं कि उनके दादा बचपन मे उन्हें दुलारते समय काव्यात्मक रीति से पदगायन करते हुए भगवान् कृष्ण का स्मरण करते रहते थे -

"श्री कृष्णः शरणं ममेति शनकैरूच्चार्य वात्सल्यत

श्री हस्ताम्बुजमाननोपरि मम व्यापारयन् सर्वत । x x x

श्री विट्ठल. शर्मणि ।

इन पक्तियो से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि श्री विट्ठल अपने बच्चो को दुलारते समय भी ईश्वर को नहीं भूलते थे और न केवल स्वयं भगवत्स्मरण करते थे बल्कि अपने छोटे-छोटे पाल्यों के भी कोमल-मस्तिष्क

पर यह अंकित करते थे कि उनका प्रथम-कर्त्तव्य भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा करना है ।[1]

गोस्वामी विट्ठलनाथ के सम्पर्क में जो भी आता था वह प्रसन्न एव सन्तुष्ट रहता था । श्री विट्ठल भगवत्सेवा करने वाले सेवको का भी पुत्रवत् ध्यान रखते थे वह कहते हैं कि - श्री यमुना जल निर्वाह सेवकै· कर्त्तव्य परन्तु नातिक्लेशेन, मत्स्वामिनः कोमल स्वभावात् "

अर्थात् भगवान् कृष्ण अत्यन्त कोमल स्वभाव के हैं अत सेवको की क्लेश-युक्त सेवा उन्हे अभिप्रेत नही है ।

यद्यपि कि पुष्टिमार्ग एव शुद्धाद्वैत के दार्शनिक सिद्धान्तो के मल प्रतिपादक वल्लभाचार्य जी थे किन्तु विट्ठलेश्वर ने ही वास्तव मे उनका सम्वर्धन एवं [illegible] किया है ।

श्री विट्ठलनाथ मुगल सम्राट अकबर के समकालीन थे । अकबर के शासन-काल के पूर्व हिन्दू धर्म ह्रासोन्मुख था किन्तु अकबर ने उसे पुन प्रश्रय दिया, उसने श्री विट्ठल की विद्वत्ता से प्रभावित होकर उन्हे गोकुल तथा

---

1. This would show that while fondling his children Vitthales' vara would not forget his Lord Krishna himself, but would leave a lasting impression on the tender minds of his children that primarily their duty was to serve Lord Krishna' -

Introduction; Sri Vitthales' vara And his Viduanmandana

(Vidvanmandanma, Page 23)

गोवर्धन की भूमि उपहार स्वरूप प्रदान कर दी थी अकबर के प्रोत्साहन से पुष्टि सम्प्रदाय की पर्याप्त उन्नति हुई, तथा उसने विट्ठलेश्वर को "गोसाईं जी" की उपाधि भी प्रदान की थी ।

मध्य प्रदेश के गढ़ा नामक स्थान पर विट्ठलनाथ कुछ काल तक वहाँ की रानी दुर्गावती के आग्रह पर रहे । रानी दुर्गावती भी श्री विट्ठल की विद्वत्ता से अभिभूत थी अत॰ उन्होंने भी " पुष्टि – सम्प्रदाय " की एव विट्ठल की अत्यन्त सहायता की ।

आचार्य पद पर आरूढ़ होकर विट्ठल ने भ्रमण करके अपने मत का विपुल-प्रचार किया । विशेष रूप से गुजरात मे शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रचार एव प्रसार का श्रेय श्री विट्ठल को ही है, जिन्होंने प्रचार के लिए गुजरात की यात्रा छ॰ बार की , जिसका उल्लेख विषय-प्रवेश में स्पष्ट रूप से किया गया है ।

गोस्वामी जी की विद्वत्ता एव उनके गम्भीर शास्त्रानुशीलन के सूचक उनके द्वारा रचित प्रौढ ग्रन्थ हैं । उनके प्रयास से तत्कालीन उत्तरी भारत वैष्णव धर्मोक्त भक्तिमार्ग एव कृष्णोपासना के रंग मे रग गया था ।

पुष्टि – सम्प्रदाय की स्थापना से पहले उत्तरी भारत मे अधिकतर शैव-शाक्तादि अवैष्णव और शाकर मतों का प्रभाव था । " बाबा वेनु की वार्ता"[2] से यह ज्ञात होता है कि वल्लभाचार्य के समय समस्त उत्तर भारत

---

2. "चौरासी वैष्णवनकी वार्ता, में " बाबा वेनु की वार्ता" का भाव

मे देवी की पूजा होती थी, वहाँ वैष्णव देवताओं का कोई नाम भी नहीं जानता था। सर्व श्री वल्लभाचार्य एवं विट्ठलनाथ ने अपने विचारो से अवैष्णवो को आस्थावान वैष्णव और भगवान् कृष्ण का उपासक बना दिया था। विट्ठलनाथ ने तो अपनी अपूर्व भक्तिभावना तथा आकर्षक सेवा पद्धति द्वारा कृष्ण भक्ति का और भी व्यापक प्रचार एव प्रसार किया था। "भक्तमाल"[3] में उनकी प्रशंसा करते हुए " उन्हे घोर कलिकाल में द्वापर युग की स्थापना करने वाला बतलाया गया है। "

विट्ठलनाथ जी सुप्रसिद्ध [illegible] प्रकाण्ड विद्वान् और कुशल राजनीतिज्ञ होने के साथ-साथ साहित्य, सगीत और कलाओ के ज्ञाता तथा प्रोत्साहन प्रदान करने वाले भी थे। उन्होंने अपने सम्प्रदाय के कवियो, सगीतज्ञो, गायकों, वादको, चित्रकारो तथा अन्य कलाकारो को संगठित करके उनकी कलाओं को धार्मिक कृत्यों मे लगा दिया था।

श्री विट्ठलनाथ स्वय ही एक प्रवीण सगीतज्ञ थे, वह भारतीय सगीत के सैद्धान्तिक एव क्रियात्मक, दोनो ही पक्षो के ज्ञाता थे भगवान् के समक्ष गाये जाने वाले कई गीतों के रचयिता श्री विट्ठल ही थे। पुष्टिमार्गीय मन्दिरो मे प्रातः काल गाये जाने वाले गीत यथा "मंगलम्-मगलम्" तथा "प्रेखपर्यंक शयनम्" की रचना श्री विट्ठल ने ही की है।

मन्दिरों मे भगवान् के समक्ष गाये जाने वाले गीत समयानुकूल रागों में निबद्ध होते थे। प्रतिदिन की भगवत्सेवा में तम्बूरा, बीन, मृदग

---

3. भक्तमाल - छप्पय सख्या 79

सारगी इत्यादि का प्रयोग होता था । इन समस्त व्यवस्थाओं का श्रेय विट्ठलनाथ को ही दिया जाता है । उनके पुत्र रघुनाथ जी ने अपने पिता श्री को " गीत संगीत सागर" का नाम दिया है । श्री विट्ठल के प्रति उनकी यह टिप्पणी अक्षरशः सत्य है।

आज इस सम्प्रदाय की जो व्यवस्थित सेवापद्धति दृष्टिगोचर होती है उसे इस रूप मे दृढ़ करने का श्रेय विट्ठलनाथ को है । उन्होंने अपने सात पुत्रों को भगवत्सेवा का विधान बताकर, श्रीकृष्ण के सात स्वरूप उन्हे सौंप दिये तथा विभिन्न स्थानो पर इनके मन्दिरो की स्थापना करके सातो-स्वरूपो की सेवा की अच्छी व्यवस्था की । उनके सातो पुत्रो का नामोल्लेख इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है । उन सात पुत्रों को जो सात-स्वरूप प्राप्त हुए, वे क्रमशः इस प्रकार हैं - मथुरेश जी, [illegible] जी, द्वारिकाधीश जी, गोकुलनाथ जी, गोकुल चन्द्रमा जी, बालकृष्ण जी, मदन मोहन जी । इन स्वरूपों के सेवा स्थान क्रमशः इस प्रकार हैं - कोटा, नाथद्वारा, काकरोली, गोकुल, सूरत और कामवन । गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के सेव्य श्री नवनीत प्रिय जी तथा श्री वल्लभाचार्य के सेव्य श्री नाथ जी थे । इस प्रकार पुष्टि-सम्प्रदाय मे कुल नौ सेव्य स्वरूप मान्य हैं । पुष्टिमार्ग में ये समस्त सेव्य-स्वरूप श्रीकृष्ण के साकार-रूप माने गये हैं ।

श्री विट्ठलनाथ जी जहाँ धर्म के आचार्य तथा शास्त्रो के प्रकाण्ड विद्वान् थे, वहाँ ब्रजभाषा के महनीय उन्नायक भी थे । ब्रजभाषा की वर्तमान

समृद्धि का गौरव श्री विट्ठल एव उनके पिता वल्लभाचार्य जी को ही देना चाहिए । इन्होंने ही श्री नाथ जी की सेवा के लिए आठ कवियो का एक समूह बनाया, जिसे " अष्टछाप" कहते हैं "अष्टछाप" के कवियो में सूरदास, परमानन्द दास, कुम्भनदास तथा कृष्णदास वल्लभाचार्य के शिष्य थे जबकि नन्ददास, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी तथा गोविन्ददास विट्ठलनाथ के शिष्य थे ।

ब्रजभाषा उस समय तक असस्कृत तथा परिमार्जन-विहीन, साहित्य क्षेत्र से बहिर्भूत भाषा थी, किन्तु विट्ठल के निरन्तर उद्योग तथा प्रोत्साहन से वह समृद्ध भाषा बनी ।

श्री विट्ठलनाथ जी का जीवन चरित्र भगवान् श्री कृष्ण के लीला-सौन्दर्य का दर्शन-बोध है। वे उच्च प्रतिभा सम्पन्न, अध्यात्म चिन्तक तथा कर्मठ व्यक्तित्व से मण्डित मनीषी थे । उनके पुष्टिमार्गीय सिद्धान्त मानवता के गुणो से ओत-प्रोत हैं जिनमे विश्वबन्धुत्व एव विश्वकल्याण की भावना सन्निहित है ।

सवत् 1647 की माघ शुक्ला सप्तमी को राजभोग के अनन्तर श्री विट्ठलनाथ गोवर्धन की कन्दरा मे नित्य लीला मे लीन हो गये ।

इस प्रकार श्री विट्ठलनाथ ने शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय एव पुष्टि मार्गीय सेवा पद्धति के विकास एव विस्तार के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किये । उन्होंने शुद्धाद्वैत-दर्शन के सम्बन्ध मे अपनी कोई नवीन उद्भावना नही प्रस्तुत की अपितु अपने पिता श्री वल्लभ के सिद्धान्तो का उन्होंने अक्षरश पालन किया ।

अत सिद्धान्त रूप से श्री वल्लभ एव श्री विट्ठल मे कोई भी मौलिक भेद नहीं है । श्री विट्ठलेश्वर ने अपने स्वतन्त्र ग्रन्थो में भी किसी नवीन दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण नहीं किया बल्कि जहाँ कहीं भी वल्लभाचार्य अपने विचारों को स्पष्ट नहीं कर पाये हैं अथवा जहाँ उन्होंने विषय को संक्षिप्त रूप मे प्रस्तुत किया है, उन्ही विषयो का स्पष्टीकरण विट्ठलेश्वर ने नैयायिको की शैली मे करने का प्रयत्न किया है ।

श्री विट्ठलेश्वर ने अपने पिता श्री के अधूरे ग्रन्थों को पूरा किया, कुछ पर विद्वत्तापूर्ण टीकायें लिखी तथा कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे। विट्ठलनाथ द्वारा रचित ग्रन्थो तथा टीका टिप्पणियो की सख्या पचास के लगभग है । जिनमे उनके प्रमुख ग्रन्थ है - अणुभाष्य का अन्तिम डेढ़ अध्याय, निबन्ध प्रकाश टीका, सुबोधिनी पर टिप्पणी, षोडशग्रन्थ पर टीका, विज्ञप्ति श्रृगार रस मण्डन, निर्णय ग्रन्थ, स्फुटस्तोत्रादि तथा टीकायें, भक्तिहस, भक्तिहेतु, भक्ति निर्णय तथा विद्वन्मण्डनम् ।

विट्ठलनाथ द्वारा लिखित कुछ प्रमुख ग्रन्थों के वर्ण्यविषय का सक्षिप्त -परिचय इस प्रकार है -

<u>अणुभाष्य -</u>

"अणुभाष्य" शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । वल्लभाचार्य ने अणुभाष्य की रचना तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद के 34वे सूत्र तक ही की थी । अन्तिम डेढ़ अध्याय की पूर्ति विट्ठलनाथ ने की ।

अपनी प्रतिभा एव विद्वत्ता से उन्होंने यथा सभव लेखन-शैली मे भी भेद नही होने दिया। अन्तिम डेढ़ अध्याय की पूर्ति विट्ठलनाथ द्वारा होने की पुष्टि इस श्लोक से होती है -

"भाष्य पुष्पाञ्जलि· श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे ।
निवेदितस्तेन तुष्टा भवन्तु मयि ते सदा ।।"[4]

अर्थात् यह भाष्य पुष्पाञ्जलि श्रीमदाचार्य के चरणो मे निवेदित है, वह मेरे ऊपर सदैव प्रसन्न रहे ।

निबन्ध प्रकाश की टीका -

विट्ठलनाथ ने " निबन्ध प्रकाश" की टीका मे भी कतिपय पक्तियाँ जोड़ी हैं । " तत्वदीप निबन्ध ग्रन्थ के " भागवतार्थ प्रकरण" पर वल्लभाचार्य द्वारा रचित अपूर्ण टीका, जिसे "प्रकाश" कहते हैं, को विट्ठल ने भागवतार्थ प्रकरण के चतुर्थ स्कन्ध की 34वी कारिका से प्रारभ कर 136वीं कारिका तक लिखा, इसके बाद यह अधूरी है क्योकि उससे आगे विट्ठलनाथ भी उसे पूर्ण नहीं कर सके थे ।

भक्तिहस तथा भक्तिहेतु -

" भक्ति हस तथा भक्ति हेतु " ये दोनों ही ग्रन्थ विट्ठलनाथ के स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं तथा दोनो ही ग्रन्थों मे भक्ति का तात्विक-विवेचन प्रस्तुत

---

4. अणुभाष्य का अन्तिम श्लोक -
श्रीमद् वल्लभ वेदान्त (अणुभाष्य), पृ0 651
प्रस्तोता
गोस्वामी ललित कृष्ण जी महाराज

किया गया है । पुष्टिमार्गीय भक्ति के ये सैद्धान्तिक ग्रन्थ हैं । भक्ति हस मे भगवत्प्राप्ति के साधन, भक्ति के स्वरूप, साधन, लक्षण आदि का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है, इसमे कर्म एव भक्ति मार्ग का वर्णन करते हुए भक्ति के साधन, फल एव प्रकार का वर्णन हुआ है ।

श्रृगार रस मण्डन -

श्रृगार रस मण्डन, विट्ठलनाथ की प्रौढ़ तथा स्वतन्त्र रचना है । इस ग्रन्थ मे पर ब्रह्म के स्वरूप का रसात्मक रूप से निरूपण हुआ है । रस-प्रतिपादक प्रस्तुत ग्रन्थ में रस के स्वरूप, मधुर भावों की अभिव्यक्ति तथा प्रमेय श्री कृष्ण की अन्तरग लीलाओ का विवरण प्राप्त होता है ।

विज्ञप्ति -

विज्ञप्ति एक प्रार्थनात्मक ग्रन्थ है । जीव के उद्धार एव शरणागत की रक्षा के सम्बन्ध मे की गई विज्ञप्तियाँ उपदेश प्रदान करने वाली तथा सैद्धान्तिक हैं, जिसमे भगवत्कृपा तथा दैन्य की प्रधानता है। इसमे दीनता, आत्म निवेदन, विरहादि की भावनाओ से युक्त सामूहिक विज्ञप्तियो का सकलन है ।[5]

विद्वन्मण्डनम् -

विट्ठलनाथ द्वारा लिखित सर्वाधिक महत्वपूर्ण एव स्वतन्त्र गन्थ

---

5. दि फिलासफी ऑफ वल्लभा - डा० श्रीमती राधारानी सुखबाल पृ० 27-28 ( वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त )

विद्वन्मण्डनम् है। वल्लभाचार्य के पश्चात् शास्त्रीय-शैली मे लिखा गया यह प्रथम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के विषय मे प्रसिद्धि है कि विट्ठलनाथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधर जी महाराज की प्रार्थना पर मधुसूदन सरस्वती के ग्रन्थ "अद्वैत सिद्धि" के खण्डन-मण्डन के लिए रचा था । इसमे गिरिधर जी महाराज पूर्वपक्ष के रूप मे विभिन्न प्रश्नों की उद्भावना करते हैं, उनकी शकाओ का समाधान विट्ठलनाथ ने युक्तिपूर्वक किया तत्पश्चात् उत्तर पक्ष के रूप मे वेदानुरूप सिद्धान्तो की स्थापना की ।

यद्यपि कि वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया किन्तु विट्ठलनाथ ने उनके द्वारा स्थापित सिद्धान्तों के दृढ़ीकरण का महनीय कार्य किया ।

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वल्लभाचार्य ने सिद्धान्त की नीव डाली और विट्ठलनाथ ने अनेकानेक साधनो से नीव को मजबूत बनाया । मजबूत नीव पर गगनचुम्बी प्रासाद बनाया जा सकता है । जिस कार्य की शुरूआत वल्लभाचार्य जी ने की उसको दृढ़ता से विट्ठलनाथ ने ही आगे बढ़ाया, यही कारण है कि इस सम्प्रदाय की सेवापद्धति एव दार्शनिकता आज भी विद्यमान है।

शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय की नींव को दृढ़ करने में "विद्वन्मण्डनम्" का योगदान सराहनीय है । इस ग्रन्थ में ज्ञान पक्ष का विवरण विशेष रूप से दिया गया है अर्थात् इस ग्रन्थ मे शास्त्रीय ज्ञान पर विशेष रूप से प्रकाश

डाला गया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विट्ठलनाथ की शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय मे एक पूरक की भूमिका थी । जहाँ कही भी वल्लभाचार्य अपने सिद्धान्तो मे क्लिष्ट हुए हैं वहीं विट्ठलनाथ ने पक्ष-विपक्ष रूपी तर्कणा से सिद्धान्त को स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

अतः शोध प्रबन्ध में दार्शनिक सिद्धान्तो की विवेचना के पूर्व मैं "विद्वन्मण्डनम्" मे वर्णित प्रमुख विषयों का विवरण प्रस्तुत करना चाहूँगी ।

ग्रन्थ का प्रारभ ही ब्रह्म के सन्दर्भ मे विप्रतिपन्ति प्रदर्शित करने वाले वाक्यो के द्वारा होती है । ग्रन्थकार की रूचि ब्रह्म को "सविशेष" प्रतिपादित करने की ओर अधिक है । संक्षेप मे विद्वन्मण्डनम् "मे प्रतिपादित विषयों का विवरण इस प्रकार है -

ब्रह्म निर्गुण एव सगुण है (सगुण पक्ष पर विशेष बल दिया गया है ।

ब्रह्म अलौकिक धर्मो से युक्त है।

ब्रह्म एव माया का सम्बन्ध ।

ब्रह्म के धर्म अविद्या कल्पित नही हैं ।

ब्रह्म का सृष्टि कर्तृत्व

ब्रह्म का अविकृतपरिणामवाद

ब्रह्म की जड़, जीव, अन्तर्यामी ,अक्षरादि, अभिव्यक्तियाँ

ब्रह्म का विरूद्धधर्माश्रियत्व

जीव प्रतिबिम्ब एव आभास नही है।

तत्वमसि महावाक्य पर विचार

जीव नित्य है।

जीव ब्रह्म का अंश है

जीव औपाधिक नही है ।

जीव अज्ञ है ।

जीव अणु परिमाण वाला है ।

विट्ठलनाथ की लीला विषयक धारणा का शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय में महत्वपूर्ण योगदान है, लीला का जैसा विवेचन उन्होंने किया वैसा किसी अन्य ने नही किया है इस विषय मे कतिपय प्रमुख बाते इस प्रकार हैं –

लीला का स्वरूप

ब्रह्म के अवतार भी नित्य है।

भगवदवतार आविर्भक नहीं हैं ।

परमात्मा सशरीर है किन्तु अनुग्रह से दृश्य है ।

लीला स्थानों का स्वरूप

लीला स्थानो का व्यापकता

लीला स्थान तथा लीला प्रविष्ट भक्त ब्रह्मात्मक हैं । जिस समय ब्रह्म की लीला होती है वह काल भी नित्य होता है ।

लीला प्राप्ति का हेतु ।

प्रभास क्षेत्र मे की गयी लीला ।

आविर्भाव - तिरोभाव ब्रह्म के शक्ति रूप हैं ।
आविर्भाव तिरोभाव परस्पर सह स्थिति के विरोधी नही है ।

वाचारम्भण श्रुति से जगत् सत्य सिद्ध होता है। ब्रह्म ज्ञान से लय ससार का होता है जगत् का नहीं ।

इस प्रकार इन महत्वपूर्ण विषयो पर विट्ठलनाथ ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं । अपने सिद्धान्तों की पुष्टि हेतु उन्होंने स्थान-स्थान पर अणुभाष्य, वेदान्तसूत्र, श्रीमद्भागवतपुराण तथा विभिन्न श्रुतियो के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं ।

# तृतीय - अध्याय

## " गोस्वामी विट्ठलनाथ के अनुसार परमसत्ता का स्वरूप "

समस्त दार्शनिक - प्रस्थान एक सार्वभौम सत्ता के अस्तित्व पर विश्वास करते है, यह सत्ता सम्पूर्ण विश्व की परिधि का केन्द्र बिन्दु है । दार्शनिक आचार्यों मे जो मत वैभिन्य है वह इस सत्ता के स्वरूप को लेकर है, इसके अस्तित्व को लेकर नही । आचार्यों ने अपनी - अपनी दृष्टि से इसके स्वरूप का वर्णन किया है । प्रसंगानुसार इस मूलसत्ता को अनेक नामो से सम्बोधित किया गया है परन्तु सबसे प्रचलित और स्वीकृत नाम "ब्रह्म" है ।

वल्लभाचार्य के अनुसार " पूर्वकाण्ड मे ( वेद एव ब्राह्मण मे ) " हरि", "त्याग" के रूप मे उत्तर काण्ड मे (उपनिषद्) वह "ब्रह्म" के रूप मे दृष्टिगत होते हैं । भागवत पुराण में वह " कृष्णावतार" के रूप मे वर्णित है । श्रीमद्भगवद्गीता मे " पुरूषोत्तम" के नाम से सम्बोधित किया गया है ।

जैसा कि पूर्वविदित है कि उपनिषदों के सिद्धान्तों को आचार्य बादरायण व्यास ने"वेदान्तसूत्रो" के माध्यम से क्रमबद्ध रूप मे प्रस्तुत किया । इन वेदान्त सूत्रो को औपनिषद दर्शन का प्रतिनिधि मानकर विभिन्न आचार्यों ने इन पर भाष्यों की रचना की, यथा - शकराचार्य, रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य तथा वल्लभाचार्य ।

आचार्य विट्ठलनाथ के ब्रह्म विषयक सिद्धान्तो की विवेचना के पूर्व उनके पिता तथा शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्य वल्लभ के सिद्धान्तो का वर्णन अति आवश्यक है क्योकि वल्लभ के ही सिद्धान्त विट्ठलनाथ के सिद्धान्तो की आधार पीठिका है ।

यह सर्वविदित तथ्य है कि वल्लभाचार्य का सिद्धान्त " शुद्धाद्वैत" के नाम से विख्यात है । शंकराचार्य के " अद्वैतवाद" से पृथकता प्रदर्शित करने के लिए ही आचार्य ने "अद्वैत" के साथ " शुद्ध" विशेषणसंयुक्त कर दिया । वल्लभाचार्य के द्वारा यह पृथकतासूचक विशेषण इसलिए लगाया गया क्योकि अद्वैत मत मे माया शबलित ब्रह्म जगत् का कारण माना जाता है परन्तु इस मत मे माया सम्बन्ध से रहित नितान्त शुद्ध ब्रह्म जगत् का कारण माना जाता है ।

शकराचार्य के सिद्धान्त का सारतत्व एक पक्ति मे इस प्रकार है – "ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर." अर्थात् एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है जीव जगदादि मिथ्या हैं माया के कारण ही सब प्रपञ्च सत्य प्रतीत होता है, माया का आवरण हटते ही सारा भ्रम दूर हो जाता है । शंकराचार्य का यह बुद्धिवादी दर्शन सामान्य जन की पहुँच से बाहर था ।

अत समस्त वैष्णवाचार्यों ने शकराचार्य का विरोध किया ।

श्रीमद्वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है, वह व्यापक, अविनाशी और सर्वशक्तिमान् है । ब्रह्म सगुण एव निर्गुण दोनों

है क्योंकि ब्रह्म के निर्गुण होने से उनका तात्पर्य है प्राकृत गुणों से रहित होना और सगुण से तात्पर्य है आनन्दस्वरूप एव दिव्य गुणो से युक्त होना । ब्रह्म का स्वरूप सत्, चित् एव आनन्द का समन्वय है । जड़ तत्व मे ब्रह्म के चित् और आनन्द रूप तिरोभूत रहते हैं केवल सदंश प्रकट होता है । जीव मे सत् और चित् अंश प्रकट होता है आनन्दांश तिरोभूत रहता है । ब्रह्म सत्, चित्, आनन्द है, उसे वल्लभाचार्य पूर्ण पुरूषोत्तम कहते हैं ।[1]

ब्रह्म को सर्वव्यापी और अन्तर्यामि माना जाता है, उसके विग्रह का निर्माण आनन्द से हुआ है । आनन्द के आधिक्य के कारण ही उसे साकार कहते हैं ।[2]

जीव और जड़ मे आनन्द तिरोभूत रहता है इसीलिए उन्हें निराकार कहते हैं । ब्रह्म ही कर्त्ता है और ब्रह्म ही भोक्ता है ।

वल्लभाचार्य के अनुसार श्रुतियाँ ब्रह्म को " अणोरणीयान्महतोमहीयान्"[3] अर्थात् अणु से भी अणु और महान् से भी महान् रूप मे वर्णित करती हैं । लोक

---

1. **Vallabha and His Doctrines - G.H.Bhatta**

2. आनन्दो ब्रह्मवादे आकार समर्पक ।
तत्वार्थ दीप निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण,
कारिका 44 पर प्रकाश ।

3. कठोपनिषद्, 2/20

मे यह प्रसिद्ध है कि कोई भी वस्तु एक ही समय मे एक साथ विरूद्ध-धर्माश्रयी नहीं हो सकती परन्तु ब्रह्म के सन्दर्भ मे ऐसी विप्रतिपत्ति नहीं है वह इतना विराट है कि परस्पर विरूद्धधर्मो का आश्रय बन सकता है, वह उभय रूप है । वेदान्त मे जिस ब्रह्मस्वरूप की अवगति होती है, वैसा ही मानना चाहिए, अणुमात्र भी अन्यथा कल्पना दोष ग्रस्त है ।[4] श्रीमद्वल्लभाचार्य कहते हैं कि - ब्रह्म अणु होते हुए भी व्यापक होता है, कृष्ण चाहे यशोदा की गोद में ही क्यों न हो, सम्पूर्ण जगत् के आधार हैं ।[5] " ब्रह्म उभयरूप है, क्योकि श्रुति उसके विषय मे उभयविध कथन करती है । ब्रह्म निर्गुण एव अनन्तगुण युक्त - इन दोनो ही रूपो मे वह वर्णित है । जैसे सर्प ऋजु तथा कुण्डलाकार अनेक रूपों मे भासित होता है, वैसे ही ब्रह्म भी भक्त की इच्छा के अनुकूल विविध रूपो मे प्रकट होता है ।[6] पर-ब्रह्म से सम्बन्धित वल्लभाचार्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है उसका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण होना । जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले का निमित्त एव उपादान कारण दोनों ही है उसी प्रकार ब्रह्म भी इस जगत् का उपादान एव निमित्त कारण दोनो ही है ।

ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व सिद्ध करते हुए वल्लभ ने " तत्वदीपनिबन्ध " मे लिखा है कि - ब्रह्म जगत् का समवायिकारण है

---

4. अणुमात्राऽन्यथाकल्पनेऽपि दोष. स्यात् (अणुभाष्य 1/1/1)
5. अण्वपि ब्रह्म व्यापक भवति, यथा कृष्णो यशोदा क्रोडे स्थितोऽपि सर्वजगदाधारो भवति ।" -शा0नि0 54
6. उभय व्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् " .... (वेदान्त सूत्र की व्याख्या 3/2/27)

और वही जगत् का निमित्त कारण भी है समस्त जगत् उसी मे ओत प्रोत है ऐसा बृहदारण्यकोपनिषद् 3/8 मे लिखा है। जब वह स्वय मे रमण करता है तब प्रपञ्च को उपसहृत अर्थात् अपने में ही ली। कर लेता है जब वह प्रपञ्च मे रमण करता हैं तो प्रपञ्च का विस्तार करता है अर्थात् जगत् को आविर्भूत या प्रकट करता है।[7]

यह सृष्टि ब्रह्म का साक्षात् प रिणाम है यह शंकराचार्य के प्रतिबिम्बवाद के सर्वथा विपरीत है। वल्लभ ने शकर के "मायावाद" का खण्डन किया है मायावाद से अपना विरोध प्रदर्शित करने के लिए ही उन्होंने अपने सिद्धान्त का नाम "ब्रह्मवाद" रखा।

शंकराचार्य जगत् को ब्रह्म का परिणाम न मानकर विवर्त मानते हैं। वल्लभाचार्य का यह कथन है कि परिणाम दो प्रकार का होता है, प्रथम प्रकार का परिणाम होता है दूध का दधि बन जाना, इसमे कारण में विकार उत्पन्न हो जायेगा किन्तु एक ऐसा परिणाम भी होता है जिसमें कारण मे कोई विकार नहीं आता जैसे सुवर्ण का परिणाम कटक, कुण्डल आदि। केवल नाम बदल गया किन्तु कारण रूप मे सुवर्ण ही विद्यमान है। इसीलिए ब्रह्म और उससे उत्पन्न जगत् की तुलना सुवर्ण और कटक कुण्डलादि से की जाती है, इस दृष्टान्त को स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि <u>परिणामवाद दो प्रकार का होता है - विकृत परिणामवाद और अविकृत-</u>

---

7. जगत समवायिस्यात् तदेव च निमित्तकम्।
   कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम्।।

   तत्वार्थ दीप निबन्ध, कारिका 68

परिणामवाद, उपर्युक्त दृष्टान्त " अविकृतपरिणामवाद" के अन्तर्गत आता है । "अविकृतपरिणामवाद", ऐसा परिणाम है जिसके कारण मे कोई विकार नही आता ।

ब्रह्म का वास्तविक परिणाम होने के कारण यह जगत् असत्य नहीं है अपितु उतना ही सत्य है जितना कि उसका कारण ब्रह्म । तैत्तिरीयोपनिषद् मे कहा गया है कि - ब्रह्म ही इस जगत् का उद्भव स्थान है, वही पालन कर्त्ता है और सृष्टि को स्वयं में लीन करने के कारण लय स्थान भी वही है। यह सृष्टि ब्रह्म की "आत्मसृष्टि" है अत सब कुछ ब्रह्मात्मक ही है, अत ब्रह्मरूप होने से सत्य है ।[8]

वल्लभाचार्य सृष्टि का प्रयोजन लीला स्वीकार करते हैं । जिस प्रकार सासारिक राजादिमृगया केवल मनोरजन के लिए करते हैं उसी प्रकार ब्रह्म भी लीला के लिए सारे प्रपञ्च का विस्तार करता है ।

वल्लभाचार्य के मत मे श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरूषोत्तम परब्रह्म हैं । वे ही अपने दिव्यगुणो एव अनन्त शक्तियो से युक्त होकर पूर्णानन्द स्वरूप पुरूषोत्तम रूप धारण करके विष्णुधाम से भी ऊपर स्थिति " व्यापी वैकुण्ठ" मे भक्तो को आनन्द प्रदान करने के लिए अनन्त, नित्य लीलायें किया करते हैं । लीला के निमित्त जब श्रीकृष्ण भक्तो को आनन्द देने के लिए अपनी

---

8. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ।
येन जातानि जीवन्ति ।।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशान्ति,
तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म ।। तैत्तिरीयोपनिषद् 3/1

अनन्त शक्तियों के साथ पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर लीला करते हैं और उनकी बारह प्रमुख शक्तियाँ चन्द्रावली, राधा, यमुना स्वामिनी आदि के रूप मे प्रकट होकर लीला में भाग लेती हैं । यह लीला भक्तों को आनन्द प्रदान करने के लिए नित्य होती है । ब्रह्म अपनी शक्तियो सहित अवतरित होता है अतएव ब्रजभूमि को लीलाधाम माना है और ब्रज की गोपियो के रूप में इस लीला का आनन्द लेने के लिए श्रुतियाँ अवतीर्ण हुई हैं । वल्लभ सम्प्रदाय मे अक्षर ब्रह्मरूप धाम गोलोक को प्राप्त करना ही प्रमुख ध्येय होता है । इसी की वल्लभ सम्प्रदायाश्रित भक्त कामना करते हैं ।[9]

सृष्टीच्छा होने पर ब्रह्म की जो परिणमन प्रक्रिया आरम्भ होती हैं उसके अन्तर्गत वह सर्वप्रथम अक्षर रूप से अवतीर्ण होता है। अक्षर मे आनन्दांश किंचित् मात्र तिरोहित सा हो जाता है । इसमे पुरूषोत्तम स्वरूप की अपेक्षा कम आनन्द होता है इसलिए इसे गणितानन्द" कहते हैं । वल्लभ अक्षर को ब्रह्म से अभिन्न तथा सृष्टि का कारण स्वीकार करते हैं ।

ब्रह्म की द्वितीय अभिव्यक्ति अन्तर्यामी की है । अक्षर से सृष्टि कर ब्रह्म जिस रूप से सृष्टि मे व्याप्त रहता है उसे अन्तर्यामी कहते हैं ।

जीव एवं जगत् भी ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति विशेष है ब्रह्म अंशी है तथा जीव अंश है । जीव मे आनन्दांश तिरोहित होता है जबकि जगत् मे आनन्द एवं चित् का तिरोभाव होता है ।

---

9. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त - डा० राधारानी सुखबाल पृ० 99

इतने भेद प्रभेदो के होते हुए भी ब्रह्म के स्वरूप मे कोई वैषम्य नही है । वल्लभ परमवस्तु को "अखण्डैकरस" ही स्वीकार करते हैं उसमे किसी भी स्तर पर कही कोई भेद नही है, स्वगतभेद भी नही है ।[10]

अत वल्लभाचार्य के सिद्धान्त का सारतत्व भी एक पंक्ति मे इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं –

"ब्रह्मसत्य जगत् सत्य अंशो जीवो हि नापर॰ "

अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् सत्य है और जीव ब्रह्म का अंश है, वह परब्रह्म से भिन्न कोई तत्व नहीं है ।

गोस्वामी विट्ठलनाथ ने मूलत वल्लभाचार्य द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तो को ही अपनाया है किन्तु उन्होने अपने पिता श्री आचार्य के सिद्धान्तों का अन्धानुकरण नहीं किया अपितु उसे तर्क सवलित कर स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

अन्य वैष्णवाचार्यों के समान विट्ठलनाथ भी ब्रह्म को सगुण एव सविशेष मानते हैं । ब्रह्म सविशेष होने के साथ-साथ अनन्त दिव्यगुणो का आगार है, निर्विशेष स्वीकार किये जाने पर वह अज्ञेय एव अनुपास्य हो जायेगा तथा समस्त लौकिक एवं वैदिक व्यवहार बाधित हो जायेंगे । विट्ठल ब्रह्म की कोई उपाधि नही स्वीकार करते उनके अनुसार सविशेष श्रुतियाँ सोपाधिक या अपरब्रह्म का नहीं अपितु परब्रह्म का ही वर्णन करती हैं ।

---

10॰ आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन
–डा० राजलक्ष्मी वर्मा

ब्रह्म का सविशेषत्व -

विद्वन्मण्डनम्" ग्रन्थ का प्रारम्भ ही गोस्वामी विट्ठलनाथ ने " विप्रतिपत्तिविषय वाक्य प्रदर्शनम्, अर्थात् निर्विशेषत्व एव सविशेषत्व मलक तर्क - वितर्कों से किया है । गोस्वामी जी के अनुसार इस जगत् मे अनेक प्रकार के क्लेशो से दु:खित हुए जीवो के मोक्ष के लिए श्रुति, स्मृति एव पुराणो मे जिस विषय का वर्णन किया गया है उसे "ब्रह्म" कहते हैं । मोक्ष-प्राप्ति के लिए वेदों मे श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने का आदेश है ।[1] इसलिए समस्त मुमुक्षुओ को यह जिज्ञासा होती है कि ब्रह्म का स्वरूप कैसा है ? वह निर्धर्मक अर्थात् निर्विशेष है अथवा सद्धर्मक अर्थात् सविशेष है ? ब्रह्म तो उभयरूप का सुना जाता है किन्तु उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ।

ब्रह्म का उभयरूप निम्नांकित श्रुतियो तथा स्मृतियो में पाया जाता है - अथात आदेशो नेति नेति ( बृहदारण्यक उ0 ) अपाणिपादोजवनो ग्रहीता ( श्वेताश्वतर उ0 ) इस प्रकार से निर्विशेषबोधक श्रुति तथा " अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम् न सत्तन्नासदुच्यते ( श्रीमदभगवद्गीता ) "स वै न देवाऽसुरममर्त्यतिर्यङ् न स्त्री न षण्ढो न पुमान् न जन्तु' नायं गुण कर्म न सन्न चा सन्निषेधशेषो जयतादशेष । " (श्रीमद्भागवत पुराण) मे भी निर्विशेषत्व का वर्णन है ।

---

1. आत्मावाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो इति-
- याज्ञवल्क्य स्मृति

" यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ﴾ तैत्तिरीयोपनिषद् ﴾
य सर्वज्ञ सर्वशक्ति· "[12], सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस ﴾छान्दोग्योपनिषद् ﴾, सर्वत पाणिपादान्तसर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ﴾ श्री मद्भगवद्गीता 13 वाँ अध्याय ﴾ इस रूप मे सविशेष ब्रह्म का वर्णन किया गया है। श्रुति तो समान बल वाली होती हैं श्रुति मे उभयविध वर्णन किया गया है अर्थात् ब्रह्म को सविशेष एव निर्विशेष दोनो कहा गया है इसलिए निर्णय की आवश्यकता है ।

"विद्वन्मण्डनम् " में ब्रह्म के सविशेषत्व तथा निर्विशेषत्व सम्बन्धी विवाद में ग्रन्थकार ने शकराचार्य प्रतिपादित निर्विशेष ब्रह्म के सिद्धान्त का खण्डन किया है । विट्ठलनाथ के द्वारा किया गया यह खण्डन मण्डन नैयायिको द्वारा स्वीकृत पूर्वपक्ष तथा उत्तर पक्ष की शैली मे है ।

शंकर तथा अन्य सभी आचार्यों ने ब्रह्म के विषय मे श्रुति को अन्तिम प्रमाण स्वीकार किया है किन्तु शकर तथा वैष्णव आचार्यों की दृष्टि मे जो अन्तर है, उससे उनके द्वारा स्वीकृत परमसत्ता के स्वरूप मे भी अन्तर आ गया है । शकर के अनुसार परमसत्ता अथवा ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण और निर्विशेष है ।[13] श्रुति मे ब्रह्म विवेचन - निरूपाधिक एव सोपाधिक दोनो ही रीतियों से किया गया है । निरूपाधिक से तात्पर्य है मायोपाधि से रहित होना । वही ब्रह्म जब मायोपाधि से युक्त होकर "ईश्वर" बन जाता

---

12. "य. सर्वज्ञ सर्वशक्तिरिति शाखान्तरस्थम् । श्वेताश्वतरे "य· सर्वज्ञ. सर्वविदिति पाठात् । - सुवर्णसूत्रम् , पृ0 18
13. डॉ0 राजलक्ष्मी वर्मा - "आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन "

है तब उसे"सोपाधिक" कहते हैं । शंकर ने इनको क्रमशः "परब्रह्म" एवं "अपरब्रह्म " का नाम दिया है ।

शकर यह मानकर चल ते हैं कि " अस्थूलमनणु . " नेति - नेति ङ्कबृहदारण्यकोपनिषद् 2/3/6ङ्क इत्यादि ब्रह्म बोधि का श्रुतियाँ गुणो का निषेध करती हैं और "सर्वकाम सर्वगन्धः सर्वरस ङ्कछान्दोग्योपनिषद् 3/14/4 ङ्क इत्यादि गुणबोधिका श्रुतियो हैं । यह गुणबोधिका श्रुतियाँ निर्गुण, निर्विशेषत्व बोधक श्रुतियो का बाध नही कर सकती । इसका अर्थ यही है कि गुणाधार- भूत ब्रह्म प्रतीत हुए बिना गुणों का बोध नहीं करा सकता और ब्रह्म की प्रतीति " अस्थलमनणु" इत्यादि श्रुतियों से होती है । शकर यह मानते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म की प्रतिपादिका श्रुतियो गुणबोधिका श्रुतियो की उपजीव्या हैं अर्थात् आश्रय हैं । उपजीव्य की अपेक्षा उपजीवक निर्बल रहता है क्योंकि वह सापेक्ष है ।

विट्ठलनाथ ने शंकर के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा है कि ब्रह्म बोधिका श्रुतियाँ गुणाधारभूत ब्रह्म स्वरूप का वर्णन करती है और गुणबोधिका श्रुतियो उसमे गुणो का बोध कराती हैं ये दोनों ही प्रकार की श्रुतियों अपने-अपने विषय मे स्वतंत्र है इनमे उपजीव्योपजीवक भाव की कल्पना कर ब्रह्म बोधिका श्रुतियों को सबल तथा गुण बोधिका श्रुतियो को निर्बल कहना नितान्त असंगत है ।

शाकराभिमत अद्वैतवादियों के द्वारा शुद्धाद्वैतवादियों के तर्क को

खण्डित करने हेतु स्पष्टीकरण दिया जाता है कि यदि ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करने वाली और गुण - बोधिका श्रुतियों, दोनों को ही स्वतंत्र एवं समान बल वाला मानने पर तो ब्रह्म का सविशेषत्व अथवा निर्विशेषत्व कुछ भी प्रमाणित नहीं हो सकेगा, इसलिए " नेति-नेति" इत्यादि श्रुतियो को मुख्य तथा " सर्वकाम॰ सर्वगन्ध सर्वरस॰ इत्यादि गुण परक श्रुतियो को गौण मानना ही श्रेयस्कर है । सविशेष - श्रुतियों उपासनार्थ होने के कारण " विधि परक " हैं "वस्तु परक " नहीं , ये ब्रह्मस्वरूप की साक्षात्प्रतिपादिका नही हैं अत इनके आधार पर ब्रह्म को सविशेष नही स्वीकार किया जा सकता .. [14]

यहाँ सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि निर्विशेष श्रुति को प्रधान एव सविशेष श्रुति को गौण मानने मे क्या युक्ति है ? शकर का यह विचार है कि बादरायण-व्यास के ब्रह्मसूत्र मे वर्णित अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्[15] सूत्र से स्पष्ट है कि दोनो प्रकार की श्रुतियो के उपस्थित होने पर तत्प्रधान § वस्तु परक § एव अतत्प्रधान § विधि-परक § मे तत्प्रधान वाक्य ही बलवान् होता है । अत " तत्परातत्पर विरोधे तत्पर बलवत् " इस न्याय के अनुसार "अस्थूलम् " इत्यादि तत्पर अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म की अवधारणा करनी चाहिए।

शकराभिमत विरोध का परिहार करते हुए विट्ठल का कथन है यह लोकप्रसिद्ध तथ्य है कि अज्ञात-वस्तु का निषेध नही होता निषेध की प्रक्रिया

---

14. डा० राजलक्ष्मी वर्मा - आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक -अध्ययन

15. ब्रह्मसूत्र - शाकर भाष्य पृष्ठ - 617, 3/2/14

के लिए वस्तु का ज्ञात होना आवश्यक है इसलिए - नेति नेति " पर-ब्रह्म के स्वरूप का अवबोधन कराने वाली श्रुतियो को भी गुणनिषेध हेतु गुण-बोधिका श्रुतियो का आश्रय लेना आवश्यक है अर्थात् सविशेष श्रुति के आधार के बिना निर्विशेष श्रुति अपना निरूपण [16] कार्य नही कर सकती । इस प्रकार गुण-बोधिका श्रुतियाँ ब्रह्मपरक श्रुतियों की उपजीव्या सिद्ध हुई । यदि उपजीव्यता ही प्रबलता का प्रमाण है तो आप निर्विशेष श्रुति को उपजीव्य मानते हैं और हमारे मत मे सविशेष श्रुति उपजीव्य है इस स्थिति मे दोनो ही श्रुतियाँ समान बलवाली हुई । हरितोषिणी कार ने लिखा है कि प्रतियोगी के निरूपण के बिना अभाव का निरूपण नही संभव है ।[17] अर्थात् सविशेष परक श्रुतियो के आधार के बिना ब्रह्म के निर्विशेषत्व का प्रतिपादन नही किया जा सकता ।

अत जैसा कि पूर्वपक्षी का विचार है कि ऐसी अवस्था मे ब्रह्म सगुण या निर्गुण कुछ भी निश्चित नही होगा । जहाँ कुछ भी निश्चित नही हो पायेगा वहाँ बौद्धाभिमत शून्यवाद की प्रसक्ति हो जायेगी । इस तरह से वही बात हुई कि वृश्चिक के भय से पलायित व्यक्ति को सर्प डस ले ।

वल्लभाचार्य भी शकर के इस सिद्धान्त के महान् विरोधी थे । उनके अनुसार सगुणविषयक और निर्गुण विषयक श्रुतियो को क्रमश. गौण और मुख्य मानने मे कोई युक्ति नहीं हैं, इनमे से एक का अन्तरङ्गत्व और दूसरी का बहिरङ्गत्व, एक का उपजीव्यत्व और दूसरी का उपजीवकत्व मानने का भी

---

16. तथा च सविशेषनिरूपकश्रुतिं विना निर्विशेषश्रुति निरूपणं कर्त्तुं न शक्नोतीति निर्वि शेषश्रुति निर्वाहकत्वरूपमुपजीव्यत्व सविशेषश्रुते आगतमितिभाव. । - वि.म. पर हरितोषिणी - पृ0 2।
17. मन्मते प्रतियोगिनिरूपणं बिना अभाव निरूपणं न सम्भवतीति सविशेष श्रुते...

कोई औचित्य दिखायी नही देता । शुद्ध ब्रह्मदुर्ज्ञेय है अतः उपाधि विशिष्ट ब्रह्म की उपासना से चित्तशुद्धि होने पर ही उसका ज्ञान होता है - यह स्वीकार्य नही है । ऐसा स्वीकार करने पर " समन्वयाध्याय " का विरोध होता है, जहाँ समस्त वेदवाक्यो का ब्रह्म में समन्वय किया गया है। उपासना वाक्यो में श्रुति जिन उपास्य रूपो का निर्देश करती है, वे विशुद्ध ब्रह्म के ही रूप हैं । उनका ब्रह्मत्व गौण या औपचारिक इसलिए नहीं है क्योकि उनकी उपासना का फल साक्षात् या परम्परया मोक्ष ही बताया गया है ।[18]

ब्रह्म के स्वरूप पर विचार करते हुए वल्लभ कहते हैं कि "ब्रह्म को निधर्मक नही माना जा सकता धर्मरहित मानने पर तो वह अनुपास्य अप्राप्य और फलत अफल हो जायेगा ।[19]

न केवल वल्लभ ने अपितु समस्त वैष्णवाचार्यों ने भी शकर के निर्विशेषत्व के इस सिद्धान्त का विरोध किया है ।

शकर निर्विशेष ब्रह्म को मुख्य मानने के पक्ष में तर्क देते हुए कहते हैं कि प्रतियोगी [20] (जिनका अभाव हो) सदा अभावो के उपजीव्य रहते हैं परन्तु उपजीव्यता के कारण कहीं भी प्रतियोगिबोधक प्रमाण अभाव बोधक प्रमाण की अपेक्षा प्रबल नही माने जाते क्योकि ऐसा मानने से अभाव का बोध होना ही असम्भव हो जाता है, इसलिए यहाँ भी गुणबोधिका श्रुतियाँ

---

18. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन
 -डा0 राजलक्ष्मी वर्मा

19. तत्वार्थदीप निबन्ध 1/67

20. यस्याभाव. स प्रतियोगी
 यत्राभाव· स अनुयोगी

उपजीव्यता के कारण सबल नही मानी जा सकती ।



इसके अतिरिक्त प्रकृतैतावत्व प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः 3/2/22/ वेदान्त सूत्र से भी यही ज्ञात होता है कि मूर्तामूर्त ब्राह्मण में "अथात आदेशो नेति नेति " यह श्रुतिपूर्व प्रकरण मे कहे गये ब्रह्म के मूर्त §दृश्य§ तथा अमूर्त § वायु के समान अदृश्य § दोनो रूपो का निषेध करती है, इसलिए ब्रह्म निर्विशेष है।

विट्ठलेश्वर के अनुसार श्रुतियो के सन्दर्भ मे सबल एव निर्बल भाव की कल्पना की अपेक्षा यह मानना उचित है कि ब्रह्म बोधिका श्रुतियाँ ब्रह्म मे लौकिक गुणो का निषेध करती हैं और गुणबोधिका श्रुतियाँ ब्रह्म मे अलौकिक गुणो का बोध कराती हैं ।

"अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् 3/2/14 आदि सूत्र ब्रह्म को निर्विशेष प्रमाणित नही करते । जिन श्रुति वाक्यो मे यह कहा गया है कि ब्रह्म मे जड़ एव जीव के धर्म हैं, उनके ही अर्थ का विचार इस प्रकरण मे हैं ।

"प्रकृतैतावत्व ... सूत्र का अर्थ अद्वैत-वेदान्ती पूर्वाग्रह से ग्रस्त होकर लगाते हैं, इसका अर्थ तो इस प्रकार है - धर्म का निषेध करने वाली श्रुतियाँ ब्रह्म मे प्रापचिक धर्मो का निषेध करती हैं, क्योकि धर्म निषेध के अनन्तर पुनः प्रकरण मे धर्मो का बोध भी कराया जाता है -

अत. इससे यही ज्ञात होता है कि "अस्थूलमनणु" इत्यादि श्रुतियाँ लौकिक धर्मो का ही निषेध करती हैं । धर्म बोधिका श्रुतियों के कहे गये सर्वेश्वरादि धर्मों का निषेध नही करती , क्योकि यदि श्रुति को धर्मो का निषेध ही अभीष्ट होता तो वह पहले ही समस्त धर्मो का विधान करके पुन' उनका निषेध कर देती, किन्तु ऐसा नही है । तैत्तिरीयोपनिषद्

मे "यतो वाचा निवर्तन्ते से ब्रह्म के धर्मों का निषेध किया गया है किन्तु पुन " आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" इस अश से यह प्रमाणित कर दिया कि ब्रह्म को मन एव वाणी स्पर्श करते हैं, क्योंकि बिना मनः स्पर्श के ज्ञान नही हो सकता, जिसका ज्ञान होता है वाणी उसी का वर्णन करती है ।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे सविशेष निर्विशेष दोनो ही श्रुतियो के समन्वय के लिए ब्रह्म को विरूद्धधर्माश्रयी माना गया । वल्लभाचार्य जी ने " दर्शनाच्च" सूत्र के भाष्य मे कहा है कि श्रुत्यादि के द्वारा ब्रह्म परस्पर विरूद्ध धर्मो का आश्रय प्रतीत होता है, इसलिए ब्रह्म को सविशेष मानने से "अस्थूलमनणु" इत्यादि निषेध परक श्रुतियो का विरोध नही होगा क्योंकि ये जिन धर्माभावो की ओर संकेत करती है वे भी ब्रह्म मे हैं और गुण बोधिका श्रुतियाँ जिन धर्मो को बताती हैं वे भी ब्रह्म मे हैं, अतएव ब्रह्म का स्वरूप ही ऐसा विलक्षण है कि उसमे परस्पर विरोधी धर्मो का भी समन्वय हो जाता है ।

ब्रह्म एव माया सम्बन्ध -

माया और अविधा ब्रह्म की शक्तियाँ हैं । वल्लभाचार्य माया को ब्रह्म की उपाधि स्वीकार नही करते । माया ब्रह्म से भिन्न कोई स्वतंत्र तत्व नही है । तत्व दीप निबन्ध मे आचार्य जी कहते हैं कि जिस प्रकार पुरूष की कार्य करने की क्षमता उससे अभिन्न होकर उसमे ही स्थित रहती है वैसे ही ब्रह्म की शक्ति माया भी ब्रह्म से अभिन्न होकर ब्रह्म मे ही स्थित

होती है । [21]

ब्रह्म की शक्ति होने के कारण माया भी सत् है । माया और ब्रह्म के बीच अभेद सम्बन्ध होता है, जिस प्रकार शक्ति शक्तिमान् के अधीन होती है उसी प्रकार ब्रह्म की शक्ति माया भी उसके अधीन होती है । यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि माया की सत्यता का अर्थ है माया की ब्रह्मात्मकता ।

विट्ठलनाथ ने श्वेताश्वतरोपनिषद् की इस "श्रुति[22] की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि – श्रुति मे आये हुए " पराऽस्य" शब्द मे से " परा" शब्द का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की विविध शक्तियों का स्वरूप मन एव वाणी के द्वारा नही जाना जा सकता, क्योंकि ये ब्रह्म से भिन्न नही अपितु ब्रह्मरूप ही है । ब्रह्म की शक्तियाँ आगन्तुकी न होकर अपितु स्वाभाविक हैं अत उन्हे अविद्याकल्पित मानना ठीक नही [23] । इस प्रकार विट्ठल ने माया को आविद्यक मानने से इनकार कर दिया है ।

यदि माया को आविद्यक मानेंगे तो सत् ब्रह्म से उसका सम्बन्ध किसी प्रकार सभव नही हो सकता । न तो दोनो के मध्य सयोग सम्बन्ध हो

---

21. तत्वदीप निबन्ध 1/27 पर प्रकाश द्रष्टव्य ।
22. न तस्य कार्य करण च विद्यते
    न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
    पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
    स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।
    – श्वेताश्वतर उपनिषद् 6/8
23 विद्वन्मण्डनम् पृ0 21-212 द्रष्टव्य

सकता है और न स्वरूप सम्बन्ध, न ही अध्यास हो सकता है और न समवाय सम्बन्ध हो सकता है।

अतएव शुद्धाद्वैतियो के अनुसार माया एव ब्रह्म के बीच अभेद सम्बन्ध है । माया एव ब्रह्म सम्बन्ध का विवेचन " जीव-प्रकरण" मे भी किया गया है। माया एव अविद्या ब्रह्म की द्वादश शक्तियो- श्री, पुष्टि, गिरा, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या, शक्ति , माया के अन्तर्गत है ।[24]

ब्रह्म अलौकिक धर्मों से युक्त है -

"अणुभाष्य " मे आचार्य ने स्पष्ट किया है कि सर्वत्र लौकिक धर्मों का प्रतिषेध और अलौकिक धर्मों का समर्थन है ।[25]

शाकरमतवादी शुद्धाद्वैतियो के तर्क से सन्तुष्ट नही है, उनके विचार से ब्रह्म मे अलौकिक धर्मों की कल्पना करना व्यर्थ ही है । इसके अतिरिक्त शास्त्र में अनेक ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं जिनमे श्रुति पहले गुणोल्लेख करती है और पुन उसका निषेध भी कर देती है यथा पहले श्रुति "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य श्रोतव्य मन्तव्य [26] रूप से अलौकिक श्रवण का विधान करती है किन्तु वही श्रुति "यतो वाचा निवर्तन्ते " [27] रूप से निषेध भी कर देती है ।

---

24. श्रीमद्भागवतपुराण
25. सर्वत्र लौकिकं प्रतिषेधत्यलौकिकं विधत्ते इति .... । " अणुभाष्य - 3/2/22/
26. बृहदारण्यकोपनिषद
27. तैत्तिरीयोपनिषद

इससे यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि श्रुति स्वय ही ब्रह्म स्वरूप के श्रवण का विधान कर निषेध कर सकती है तो "सर्वकाम सर्वगन्ध" इत्यादि गुणपरक श्रुति धर्मों का भी स्वयं बोध कराकर " नेति-नेति "रूप से स्वय निषेध भी कर सकती है ।

वल्लभाचार्य की तरह रामानुज भी यह मानते हैं कि ब्रह्म में अलौकिक धर्म हैं और लौकिक धर्मों का राहित्य है । किन्तु शकराचार्य की दृष्टि मे लौकिक अलौकिक समस्त धर्मों का सब प्रकार से निषेध किया जाना चाहिए । वह मानते हैं कि श्रुति आत्मतत्व का ज्ञान कराने के लिए पहले उसमे धर्मों का आरोपण करती है, और पुन इन आरोपित धर्मों का भी "नेति-नेति" रूप से पूर्णतया निषेध कर देती है।

ब्रह्म के धर्म अविद्याकल्पित नही हैं -

विट्ठल शंकर के इस सिद्धान्त का निराकरण करते हुए कहते हैं कि विशेषो ( धर्मों ) का निषेध करने के लिए उनको अविद्या कल्पित भी मानना होगा और ब्रह्म मे विशेषों की कल्पना करने वाली यह अविद्या जीवनिष्ठ होगी या ब्रह्मनिष्ठ ? ब्रह्म निष्ठ होने पर वह धर्मों की कल्पना

ब्रह्म मे ही नहीं कर सकतीी यदि जीव निष्ठ माने तो अविधा सम्बन्ध के बिना ही ब्रह्म सविशेष सिद्ध हो गया क्योकि ब्रह्म के प्रत्यक्ष हुए बिना जीव की अविधा उसमे विशेषो की कल्पना नही कर सकती यह आविधक धर्म की कल्पना शुद्ध ब्रह्म मे ही मानी जाती है और शुद्ध ब्रह्म तो मन एव वाणी से अगम्य होने के कारण जीव निष्ठ अविधा से सम्बद्ध नही हो सकता । इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठ और जीवनिष्ठ दोनो प्रकार की अविधा के द्वारा ब्रह्म मे विशेषो की कल्पना नही की जा सकती ।

इसी सिद्धान्त की विवेचना "सुवर्णसूत्रम्"[28] मे अत्यन्त स्पष्ट रूप से की गयी है कि शुक्ति मे रजत का अध्यास करने वाला अज्ञान यदि शुक्ति में रहे तो सभी को सदा भ्रम ही होता रहेगा क्योकि वह सभी के प्रति समान है । जिस व्यक्ति ने कभी रजत नही देखा उसे भी शुक्ति मे रजत का भ्रम हो जायेगा । विशेष दर्शन होने पर यदि एक का अज्ञान नष्ट हुआ तो सभी का अज्ञान नष्ट हो जायेगा । अत यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार शुक्ति-निष्ठ भ्रमात्मक ज्ञान रजत कल्पक नही होता उसी प्रकार ब्रह्म निष्ठ अविधा भी विशेष कल्पिका नही हो सकती । जीव गत अविधा - का ब्रह्म विषय मे संसृष्ट होना आवश्यक है यह सम्बन्ध मनोद्वारक ही होगा, किन्तु ब्रह्म तो मन एव वाणी दोनों से ही अप्राप्य है, अत दोनो के मध्य यह सम्बन्ध स्थापित नही होगा । इसके अतिरिक्त यह सम्बन्ध बहिरिन्द्रियद्वारक भी नही हो सकता, क्योंकि ब्रह्म आविधक इन्द्रियो का

---

28. सुवर्णसूत्रम् - गिरिधर जीमहाराज, पृ0 205 द्रष्टव्य

भी विषय नहीं बन सकता ।

इस प्रकार जब मन एव वाणी की पहुँच से रहित ब्रह्म का ही ज्ञान नहीं होगा तो अविद्या विशेषों की कल्पना कहाँ करेगी ? अत यह कहा जा सकता है कि अविद्या न ब्रह्मनिष्ठ है और न जीवनिष्ठ और वह ब्रह्म मे विशेषो की कल्पना भी नही करती ।

विट्ठलनाथ स्पष्ट रूप से कहते हैं कि – "वस्तुतस्तु ब्रह्मधर्मा· सर्व एवानागन्तुका एव, यतो नित्या: "[29] अर्थात् ब्रह्म के समस्त धर्म स्वाभाविक और अनागन्तुक हैं, अत वे नित्य हैं इसलिए उनका निषेध सम्भव भी नही है । श्रुति जहाँ निषेध करती है वह ब्रह्म के लौकिक धर्म होते हैं , अलौकिक धर्मों का निषेध श्रुति कभी नही करती ।

ब्रह्म को सधर्मक स्वीकार करने से " एकमेवाद्वितीयम् " रूप ब्रह्म को किसी प्रकार क्षति नहीं पहुँचती है । वल्लभाचार्य यह मानते हैं कि ब्रह्म के गुण उससे भिन्न नही है अपितु उसके स्वरूपभूत हैं ।[30]

जगत्कर्तृत्व एव सर्वकामत्व आदि गुण अविद्या के सम्बन्ध से सगुण ब्रह्म मे रहते हैं । अद्वैतियो की यह मान्यता है कि शुद्ध ब्रह्म माया के संसर्ग से युक्त होकर जगत् की सृष्टि करता है । शकर निर्विशेष श्रुतियो को "अन्तरग " मानते हैं और सविशेष श्रुतियो को "बहिरग" । सविशेष श्रुतियाँ

---

29. विद्वन्मण्डनम् ,पृ0 210 द्रष्टव्य

30. तत्वदीपनिबन्ध 1/47 पर प्रकाश द्रष्टव्य

अपरब्रह्म का वर्णन करती हैं । इन श्रुतियों की उपयोगिता इस सन्दर्भ मे है कि जब उपासक की बुद्धि सगुणोपासना से शुद्ध एव स्थिर हो जाती है तो निर्गुण ब्रह्मके साक्षात्कार मे सरलता होती है ।[31] सगुणोपासना ब्रह्मसाक्षात्कार" के सन्दर्भ मे प्रथम सोपान का कार्य करती है । निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार मे सगुण ब्रह्म की स्थिति "शाखाचन्द्र न्याय के सदृश है अर्थात् जिस प्रकार द्वितीया का चन्द्रमा अल्पाकारहोने से जब बालक को दृष्टिगत नही होता तो प्रथमत उसे उस दिशा मे स्थित किसी वृक्ष की शाखा दिखायी जाती है और फिर उस शाखा की सहायता से सहज ही चन्द्रदर्शन कराया जाता है। ठीक यही उपयोगिता गुणबोधिका श्रुतियो की निर्गुण ब्रह्म के साक्षात्कार मे है, वस्तुत ब्रह्म गुणो के स्पर्शमात्र से भी रहित है ।

शुद्धाद्वैतवादी शकर के उपर्युक्त सिद्धान्त से कदापि सहमत नही है। उनके अनुसार शांकरमतावलम्बियो का यह सिद्धान्त कि श्रुति उपासना परक सविशेषश्रुतियो का विधान करके पुन॰ निर्विशेष श्रुतियो के द्वारा उनका खण्डन कर देती है, पूर्णतया असगत है क्योकि लोक मे भी ऐसा नही देखा जाता कि पहले किसी वस्तु के धर्मों का सत्रूप से निरूपण करके पुन॰ उसका निषेध कर दिया जाये । जगत् में कोई ऐसी वस्तु नही है जो एक ही समय में अपने दोनों पार्श्वों अथवा स्वरूपो का परिचय देती हो लौकिक जगत् में घट-पटादि कुछ ऐसी वस्तुएं अवश्य हैं जो कि कालभेद से अपने अनेक प्रकार के

---

31. **The Philosophy of Vallabhacharya- Marfatia**

**Page 243**

स्वरूपो को प्रकट करती हैं यथा – कुम्भकार जब घट का निर्माण करता है तब वह श्याम होता है जब उसी घट को अग्नि मे पकाता है तो वह रक्त – वर्ण का हो जाता है किन्तु ब्रह्म तो " अखण्डैकरस " है [32] इसलिए ऐसा सभव ही नही है कि प्रथम ब्रह्म निर्गुण रहे और बाद मे सगुण हो जाये ।

विट्ठलनाथ ने "विद्वन्मण्डनम् " मे मायावादियो के समक्ष यह तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि श्रुति – सम्मत गुणबोधन और गुण–निषेध का कुछ प्रयोजन तो अवश्य होना चाहिए, श्रुति निष्प्रयोजन विधान कदापि नहीं कर सकती यदि अद्वैतवादियो के विचार से ब्रह्म मे गुण नहीं है तो गुणो का बोध न कराना ही उचित था जिससे निषेध करने की आवश्यकता ही न पड़ती । इस तर्क के उत्तर मे शाकरमतावलम्बी यही कहते हैं कि सगुण ब्रह्म का विधान करने वाली श्रुतियाँ निष्प्रयोज्य नही हैं उनका उद्देश्य है कि जब ईश्वरोपासना से साधक की बुद्धि निर्मल हो जाती है तब उसे निर्गुण निराकार परब्रह्म की अनुभूति होती है । इस प्रकार की कल्पना से श्रुति विरोध नही होता है ।

ब्रह्म का सगुणत्व तथा निर्गुणत्व, दोनो सत्य है –

किन्तु विट्ठलेश्वर के विचार से ब्रह्म का सगुणत्व एव निर्गुणत्व दोनो ही सत्य है । निषेधात्मक एव सकारात्मक श्रुतियो के मध्य अन्विति

---

32. पूर्व श्यामत्वेन निरूपिते पाकरक्ते घटे श्यामत्वस्येव । न चैव ब्रह्मणि सभवति, सदैकरसत्वात् ।

— विद्वन्मण्डनम् , पृ0 23

बैठाने के लिए उन्हे किसी "उपाधि" की आवश्यकता नही पड़ती है । निषेधात्मक श्रुति ब्रह्म के लौकिक गुणों का निषेध करती है, अलौकिक गुणो का नही । ब्रह्म को निर्गुण भी लौकिक-गुण-राहित्य के कारण ही कहते हैं । अद्वैतवादियो द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार के सम्बन्ध में स्वीकृत "शाखाचन्द्रन्याय" का दृष्टान्त भी तार्किक दृष्टि से अनुचित है ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य मानते हैं कि उपासना वाक्यो मे श्रुति जिन उपास्य रूपो का निर्देश करती है वे विशुद्ध ब्रह्म के ही रूप हैं । मात्र ब्रह्मज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती अपितु मुक्ति प्राप्ति का मार्ग भक्ति एव उपासना भी है शुद्धाद्वैत-दर्शन मे भक्ति को ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा अधिक महत्व प्राप्त है । उपासना का फल साक्षात् या परम्परया मोक्ष ही है अत गुण बोधिका श्रुतियो का महत्व गौण या न्यून नही है ।

समस्त वैष्णवदार्शनिको की सबसे बड़ी विशेषता है - सिद्धान्त की "सविशेषवस्तुवादिता" । इनके अनुसार यदि ब्रह्म को निर्विशेष स्वीकार करे तो वह अज्ञेय, अनुपास्य तथा अफल हो जायेगा तथा समस्त लौकिक एव वैदिक - व्यवहार बाधित हो जायेंगे । ब्रह्म को परमार्थत सधर्मक मानने के कारण ही वल्लभ शकराचार्य के पारमार्थिक और व्यावहारिक स्तर तथा पर और अपरब्रह्म की धारणा का खण्डन करते हैं ।

विट्ठलनाथ ने अपने ग्रन्थ मे निर्विशेषवादियो से यह प्रश्न किया है कि सगुण एव निर्गुण ब्रह्म भिन्न हैं या अभिन्न ? यदि भिन्न है तो यह

भिन्नता वास्तविक है अथवा अवास्तविक ? यदि भिन्न है तो तुम्हारे मत मे अद्वैत कैसा ? सगुण एव निर्गुण ब्रह्म की भिन्नता वास्तविक हो ही नहीं सकती क्योंकि तब ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के द्वितीय पाद के "सर्वत्रप्रसिद्धोपदेशात्" अधिकरण का विरोध होगा [33] क्योंकि मनोमयत्वादि कथन मे ब्रह्म को उपासना का आधार माना गया है, जो ब्रह्म वास्तविक ही नही है वह उपासना का आश्रय बनकर जीव को मुक्ति मार्ग पर अग्रसर कैसे कर सकता है ?

शाकर मत मे सगुण ब्रह्म को अपरब्रह्म माना जाता है क्योंकि उसके गुण उसकी विशेषतायें अविद्या के उत्पाद्य हैं जैसा कि विदित ही है कि शुद्ध सत्व प्रधाना अविद्या मे ब्रह्म का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है उसे ईश्वर अथवा अपरब्रह्म कहते हैं । अत यदि इस अपरब्रह्मको परब्रह्म से भिन्न माना जायेगा अविद्योपाधि के कारण ब्रह्म, ईश्वर, जीव की सृष्टि स्वीकार की जायेगी तो महान् शास्त्रीय वाक्य "तत्वमसि" का विरोध होगा । "तत्वमसि" वाक्य तो जीव एव ब्रह्म के ऐक्य का बोध कराता है ।

---

33. सुवर्णसूत्रम् – छादोग्ये पञ्चमप्रपाठके शाण्डिल्य विद्यायाम् ।
सर्व खल्विदं ब्रह्म ....प्राणशरीरो भारूपः ।

निस्संदेह यह साराजगत् ब्रह्म ही है क्योंकि उस ब्रह्म से ही यह जगत् उत्पन्न हुआ है, उसी में लय होता है उसी मे स्थितिकाल मे चेष्टा करता है अत शान्त होकर उसी की उपासना करे, क्योंकि पुरूष निश्चय ही संकल्पमय है इस लोक मे पुरूष जैसे सकल्पवाला होता है मरणोपरान्त वैसे ही होता है इसलिए पुरूष को सकल्प ध्यान करना चाहिए और [ वह ब्रह्म] मनोमय, प्राणमय और प्रकाश स्वरूप है इत्यादि श्रुति है ।

सगुण और निर्गुण ब्रह्म की भिन्नता का प्रश्न दो तरह से विश्लेषित कर सकते हैं । वे दोनों वास्तविक रूप से भिन्न नही हो सकते यदि भिन्नता स्वीकार करेंगे तो द्वैतापत्ति हो जायेगी और मध्वाचार्य द्वारा समर्थित वेदान्त अर्थ अर्थात् जीव एव ब्रह्म तात्त्विक रूप से भिन्न हैं स्वीकार करना पड़ जायेगा ।[34]

इससे शाकरमतानुयायियो का अद्वैतवाद का सिद्धान्त खण्डित होगा क्योकि उनके अनुसार सगुण और निर्गुण ब्रह्म का भेद अवश्य है, परन्तु अवास्तविक है, अविद्या के सम्बन्ध से ब्रह्म में जगत्कर्तृत्वादि गुण प्रतीत होते हैं और इसी से इस भेद का जन्म होता है किन्तु अविद्या तथा अविद्याकल्पित-कर्तृत्वादि गुण मिथ्या है, इसलिए यह इनका किया हुआ भेद वास्तविक नही हो सकता ।

यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि वल्लभाचार्य पर और अपर ब्रह्म जैसे वास्तकि अथवा मायिक किसी भी प्रकार का भेद नही स्वीकार करते ।

उपर्युक्त द्वितीय विश्लेषण के अनुसार मायोपाधि[35] के कारण

---

34. माध्वादयो जीवब्रह्मणोस्तात्त्विक भेदमगीकुर्वन्ति ।
- सुवर्णसूत्रम् पृष्ठ 29

35 उपाधि से तात्पर्य है असीमित को सीमित कर देने वाली, इसे हम एक उदाहरण से इस तरह से स्पष्ट कर सकते है - जैसे आकाश असीमित होता है लेकिन वही जब घट के द्वारा सीमित बनकर [illegible] बनता है तब उसे घटोपाधि से ग्रस्त मानते हैं । उसी प्रकार जब ब्रह्म मायावच्छिन्न होता है तो उसे सविशेष ब्रह्म कहते हैं, अविद्यावच्छिन्न ब्रह्म जीव कहलाता है ।

सविशेष एव निर्विशेष ब्रह्म के भेद को अवास्तविक मानने वाले अद्वैतवादियो के पक्ष को मानने पर पुन. कतिपय समस्याये सामने आती हैं अविद्या एव ब्रह्म दोनो को अनादि माना जाता है यदि अविद्या की उपाधि से युक्त ब्रह्म जगत्कर्त्ता बनता है अत यहाँ यह स्थिति उत्पन्न होती है अविद्या एवं ब्रह्म दोनो ही अनादि हैं जो अनादि होते हैं उनका नाश नही होता इसलिए सर्वदा सृष्टि होती रहेगी प्रलय कभी न होगा।

डा0 श्रीमती मृदुला मारफतिया अपनी पुस्तक " दी फिलासफी ऑफ वल्लभाचार्य" मे शाकरमत से सम्बन्धित स्पष्टीकरण को प्रस्तुत करते हुए कहती हैं कि सगुण एव निर्गुण ब्रह्म के मध्यभेद को कल्पित माना जा सकता है क्योंकि यह भेद अविद्या के कारण है अविद्या न तो वास्तविक है और न अवास्तविक । जबकि ब्रह्म "एकमेवाद्वितीयम्" है, भेदपरक विचारधाराये एव कथन" जीव" से सम्बद्ध हैं जिसका वास्तविक स्वरूप अविद्या के द्वारा आवृत कर लिया जाता है अविद्या अनादि होते हुए भी जीव के द्वारा व्यक्तिगत रूप से अपने स्वरूप को जान लेने पर अर्थात् ब्रह्मानुभूति होने पर विनष्ट हो जाती है ।[36]

सगुण एव निर्गुण शब्दो के प्रचलित अर्थ वल्लभाचार्य को मान्य नहीं है । उनके अनुसार *'सगुण'* शब्द का अर्थ है सत्व रजस् तथा तमसादि गुणो का अभिमानी अर्थात् जिसे गुणाभिमान हो ।

---

36. **Here, it may be pointed out that according to the 'Sankara School', the difference between two.**

**- Page 244, 'The Philosophy of Vallabhacharya-**

**- Mrs.Mridula Marfatia**

" ब्रह्म सर्वात्मक है, अत गुणो की भी आत्मा है, गुणो का सर्जक है । यदि ऐसा स्वीकार नहीं करेंगे तो " ऐतदात्म्यमिदसर्वम् " इत्यादि श्रुतियो का विरोध होगा । [37]

ब्रह्म को गुणो से अवच्छिन्न नहीं माना जा सकता बल्कि गुण ब्रह्मत्वाच्छिन्न हैं । इसका हेतु यह है कि वाल्लभ सिद्धान्त मे गुण की गुणरूप से सत्तानहीं है बल्कि गुण ब्रह्मरूप से सत्य है । ब्रह्म अपने अस्तित्व के लिए पराश्रित नही है अपितु वह स्वतत्र है । गुण ब्रह्म के स्वरूप नही है बल्कि उसके ज्ञापकमात्र हैं अत ब्रह्म को वस्तुत निर्गुण ही माना जाना चाहिए यहाँ शकर के अद्वैतवादी सिद्धान्त के अनुसार निर्गुण का तात्पर्य निर्विशेष नही है बल्कि वाल्लभ दर्शन मे " निर्गुण" की एक विशिष्ट परिभाषा मिलती है - "प्राकृतगुणाभिमानरहित "

शकराचार्य यह मानते हैं कि सत्व, रजस्, तमस् ये तीनो गुण अविद्या-स्वरूप के अन्तर्गत हैं । इनमे जब रजस् गुण प्रकटीभूत होता है तब परब्रह्म ब्रह्मा के स्वरूप से सृष्टि करता है, जब सत्व का आविर्भाव होता तब विष्णु के स्वरूप से रक्षा करता है जब तमस का आविर्भाव होता है तब शिव के स्वरूप से प्रलय करता है । इस कथन की श्रीमद्भागवतपुराण मे भी पुष्टि की गयी है ।[38]

---

37. डा० राजलक्ष्मी वर्मा - आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन

38. सत्व रजस्तमइति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्त. पर. पुरूष एक इहास्य धत्ते । स्थित्यादये हरिविरञ्चिहरेति सज्ञा' ।

— श्रीमद्भागवतपुराण

अत शुद्धाद्वैतवादियो का यह कहना कि अविद्या एव ब्रह्म के अनादि होने से सर्वदा सृष्टि होती रहेगी और प्रलय नही होगा, असत्य है ।

ब्रह्म का सृष्टि कर्तृत्व -

इस स्पष्टीकरण के प्रत्युत्तर मे विट्ठलनाथ का कथन है कि सत्व, रजस् तमस् ये तीनो गुण अचेतन हैं इनका आविर्भाव - क्रम है प्रथमत रजस अनन्तर सत्व का तदनन्तर तमस् का । इन गुणो से जो सृष्टि होती है वह स्वत नही हो सकती उसके लिए एक अधिष्ठाता की आवश्यकता है यदि ब्रह्म की इच्छा कारण है जो जगत् के सृष्टि-स्थिति तथा सहार भी उसी से हो जायेंगे फिर गुणो की आवश्यकता ही नही रह जायेगी । ब्रह्म तो सर्वशक्तिमान एव सामर्थ्यशाली है उसे सत्व रजस्, तमस् जैसे गुणो की आवश्यकता कदापि नही पड़नी चाहिए ।

विट्ठलनाथ कहते हैं कि केवलाद्वैती गुणाविर्भाव में ब्रह्म की इच्छा को कारण मान भी नहीं सकते क्योकि उनके मत मे ब्रह्म अविद्या की उपाधि से ग्रस्त होकर अर्थात् अविद्या के अधीन होकर सृष्टि करता है । गुणाविर्भा व मे जो इच्छा होती है वह कार्यविषयिणी होती है क्रमविषयिणी नही । पहले सर्ग, फिर स्थिति तत्पश्चात् सहार इस क्रम का भी कोई हेतु होगा ?

इस प्रश्न का उत्तर पूर्वपक्षी देते हुए कहते हैं कि गुणो के क्रम से प्रकट होने में गुणो का स्वभाव ही कारण है ।

शुद्धाद्वैतियो के अनुसार यदि गुणो के क्रमाविर्भाव मे स्वभाव ही कारण है तो ब्रह्म को कारण मानने की क्या आवश्यकता है, ऐसे स्वभाव वाले गुण स्वय ही सृष्टि रचना करने मे सक्षम होंगे । सुवर्णसूत्र के अनुसार यदि गुणो के क्रमिक आविर्भा व को स्वभावत ही माने तो अनीश्वरवाद की प्रसक्ति होगी ।[39]

इसके अतिरिक्त ब्रह्म को अविद्या-परतंत्र मानकर अर्थात् अविद्या की उपाधि से ग्रस्त ब्रह्म को मानना भी नियमविरुद्ध है क्योकि व्याकरणाचार्य महर्षि पाणिनि ने अपने ग्रन्थ "अष्टाध्यायी" मे "स्वतत्र" कर्त्ता " इस सूत्र से कर्त्ता को स्वतन्त्र घोषित किया है ।

अद्वैतवादियो ने यह प्रश्न उठाया है कि जिस प्रकार सैनिक राजा के अधीन रहकर भी युद्ध करते हैं वैसे ही ब्रह्म भी अविद्या के अधीन होकर सृष्टि-कार्य क्यो नही कर सकता ?

किन्तु यह ध्यातव्य है कि सैनिक राजा के अधीन होने पर भी स्वतत्र रूप से अपना-अपना कार्य करते हैं किन्तु ब्रह्म स्वतंत्र रूप से कुछ नहीं करता इसलिए इसे कर्त्ता नहीं कह सकते । उपाधि युक्त ब्रह्म को कर्त्ता मानने पर ब्रह्म को कर्त्ता मानने वाली सभी श्रुतियो का विरोध होगा ।

---

39. तथा च सति क्रमिकाविर्भाव स्वभावाना तेषामेव कारणत्वापत्याऽनीश्वरवाद प्रसक्तेरिति वेदान्तत्वाभिमानिनस्तव मते एव न वक्तु शक्यमित्यर्थ ।

— सुवर्णसूत्रम् , पृ0 31

केवलाद्वैती यह मानते हैं कि वस्तुत अविद्या की उपाधि से युक्त ब्रह्म ही सृष्टि रचना करता है, श्रुतियाँ अविद्या के कर्तृत्व का ब्रह्म मे उपचार से वर्जन करती है जैसे कि केवल सेना युद्ध करती है तथापि सभी लोग यही कहते हैं कि " राजा युद्ध करता है । " अत श्रुतिविरोध की कोई आपत्ति नही है ।

शुद्ध ब्रह्म से ही सृष्टि होती है -

विट्ठलनाथ के विचार से अनादि अविद्या और परब्रह्म के मध्य राजा और सेना जैसा परस्पर सेव्यसेवक भाव सम्बन्ध नही है क्योकि "सदेव सौम्येदमग्रआसीत् " अर्थात् सृष्टि के पूर्व केवल ब्रह्म ही था, यह श्रुति सृष्टि के पूर्व ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की सत्ता का पूर्ण निषेध करती है यदि अविद्या सृष्टि का कारण होती तो यह सृष्टि के पूर्व अवश्य ही विद्यमान रहती क्योकि कार्य से पूर्व कारण अवश्य रहता है और अविद्या रूपी कारण यदि होता तो रहते हुए का निषेध होना किसी प्रकार सभव नहीं है । अत अविद्योपाधि से युक्त ब्रह्म सृष्टि का कारण होता है, यह कथन सर्वथा असत्य है एक मात्र शुद्ध ब्रह्म ही सृष्टि का कारण है अविद्या तो उसकी शक्ति मात्र है।

केवलाद्वैतियो को विट्ठलनाथ द्वारा स्वीकृत शुद्धब्रह्म से सृष्टि का सिद्धान्त मान्य नहीं था उनके विचार से "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" इस श्रुति मे "सत्" शब्द अविद्यायुक्त ब्रह्म का वाचक है अत यह श्रुति अविद्या - युक्त ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य वस्तुओ का निषेध कर सकती है

अविधा का नहीं कर सकती ।

जबकि इसके ठीक विपरीत विट्ठलनाथ का तर्क है कि "सत्" का तात्पर्य मात्र शुद्ध ब्रह्म से ही है माया अविधा आदि वस्तुओं से नहीं । अपने तर्क को सवलित करने हेतु वह श्रीमद्भगवद्गीता का दृष्टान्त भी प्रस्तुत करते हैं - " ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध स्मृत [40] अर्थात् ॐ, तत् और सत् ये तीनो केवल ब्रह्म के नाम हैं अत "सत्" शब्द का अर्थ अविधा युक्त ब्रह्म नही हो सकता । पूर्वपक्षी विट्ठलनाथ के उपर्युक्त तर्क को ध्वस्त करते हुए यह स्वीकार करता है कि " सत्" शब्द का अर्थ यदि शुद्ध - ब्रह्म मान लिया जाये, तथापि "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् - ﴾ छादोग्योपनिषद् 6/2/1 ﴿ इस श्रुति से ब्रह्मतिरिक्त वस्तु का निषेध नही हो सकता क्योंकि इसमें जो "सत्" शब्द के अनन्तर "एव" पद है इसका सम्बन्ध " आसीत् क्रिया के साथ है " सत्" शब्द के साथ नही है इसलिए इसका अर्थ केवल इतना ही है कि सृष्टि के पूर्व ब्रह्म अवश्य था, यह नही कि ब्रह्मतिरिक्त कोई वस्तु ही न थी । यदि ऐसा होता तो श्रुति "अग्रे" इस पद से ब्रह्मतिरिक्त काल की सत्ता न बताती, क्योंकि ब्रह्मतिरिक्त की सत्ता का निषेध कर पुनः ब्रह्मतिरिक्त काल की सत्ता बताना पूर्वापर विरोध है ।[41]

---

40. न च सच्छब्देनोपाधि विशिष्टमेव ब्रह्मोच्यत इति वाच्यम् । विनिगमका- भावात् " ॐ तत्सदिति निर्देशो, ब्रह्मणः त्रिविध स्मृत" इति गीता का वाक्य विरोधाच्च । "

- सुवर्णसूत्रम् , पृ0 33

41. सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष , पृ0 5

पूर्वपक्षी के इस आरोप का खण्डन करते हुए विट्ठलनाथ का प्रत्युत्तर इस प्रकार है - "सदेव सौम्येदमग्र आसीत् " इस श्रुति में "एव" पद में सम्बन्ध का परिवर्तन कर देने मात्र से ब्रह्मातिरिक्त वस्तु की सत्ता प्रमाणित नही हो सकती क्योंकि " सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनो पश्यत् " अर्थात् ब्रह्म ने अपने स्वरूप से अतिरिक्त और किसी को नही देखा इत्यादि और भी अनेक श्रुतियों ब्रह्मातिरिक्त वस्तु का निषेध करती है "एव" पद का अर्थ व्यवच्छेदक के रूप मे ग्रहण किया जाना चाहिए । [42] "सत्" और एव का जो स्वाभाविक सम्बन्ध प्रतीत हो रहा है, वही उचित है।

पूर्वपक्षी की "काल" सम्बन्धी अर्थात् "अग्रे" पद से सम्बन्धित आपत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए विट्ठल कहते हैं कि श्रुति मे काल-वाचक "अग्रे" पद का प्रयोग करने का तात्पर्य यह नही है कि सृष्टि से पूर्वकाल था। सृष्टि से पूर्व ब्रह्म ही था इस बात को भी समझाना हो तो जब तक "पूर्व, प्रथम, अग्रे "आदि किसी कालवाचक पद का प्रयोग न किया जाये तब तक समझा नही सकते इसलिए सृष्टि समय के व्यवहारानुसार कालवाचक "अग्रे" पद का प्रयोग किया गया है। [43] वस्तुत "कालरूपोऽवतीर्ण " कालोऽस्मि"

---

42. विशेष्यपदान्वितेन अन्ययोग व्यवच्छेदकेनेति यावत् ।"
- हरितोषिणी - पृ0 32

43. क- पूर्ववृत्तान्त बोधनार्थ मित्येत्यर्थः ।
हरितोषिणी , 32

ख- सुवर्णसूत्रम् , पृ0 32

इत्यादि वचनो के अनुसार हमारे मत मे काल भी ब्रह्म स्वरूप है इसलिए सृष्टि से पूर्व इसकी सत्ता मानने मे हमारी तो कोई हानि नही है।

शुद्धाद्वैतियो के इस सिद्धान्त को अद्वैतवादी स्वीकार नही कर सकते क्योकि ऐसा करने पर उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों का विरोध होगा, उनके अनुसार अविद्या ब्रह्म से अभिन्न न होकर भिन्न है इसलिए सृष्टि से पूर्व ऐसी अविद्या की सत्ता मानने पर "सदेव सौम्येदमग्र " इस श्रुति का विरोध होगा ।

सृष्टि-प्रकरण की श्रुतियो यथा "आत्मैवेदमग्र आसीत् "[44] आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते " इत्यादि मे सर्वत्र आनन्द, आत्मा आदि शुद्ध ब्रह्मवाचक शब्दो के ही प्रयोग मिलते हैं अविद्या का नाम मात्र भी उल्लेख नही है । इन श्रुतियो के अर्थ का निर्धारण करने वाले भगवान् वेदव्यास भी " गौणश्चेन्नात्मशब्दात्तन्निष्ठस्यमोक्षोपदेशात्[45] इत्यादि सूत्रों के द्वारा ब्रह्म को ही कर्त्ता प्रमाणित करते हैं इसलिए अविद्या को या अविद्या युक्त ब्रह्म कोकर्त्ता मानना उचित नही है ।

"आत्मा" शब्द समस्त वेदान्त वाक्यो मे निर्गुण। परब्रह्म का ही वाचक है, उसे ही जगत्स्रष्टा भी कहा गया है । गौण ब्रह्म मे स्वतन्त्रता का नितान्त अभाव है, उसमे कर्तृत्व की अर्हता नही है। सब कुछ करने में समर्थ परब्रह्म ही जगत्कर्त्ता हो सकता है यह श्रुति-सम्मत विचार है ।

---

44. ऐतेरय उपनिषद् 1/1/1

45. वेदान्त सूत्र 1/1×5, 1/1×6 द्रष्टव्य

"हरितोषिणीकार " लिखते हैं कि कर्त्ता स्वतत्र होता है ऐसा पाणिनि ने लिखा है ।[46]

"गौणश्चेन्नात्मशब्दात् " तथा " तन्निष्ठस्यमोक्षोपदेशात् " (1/1/5, 1/1/6)[2] सूत्रो के सन्दर्भ में केवलाद्वैती दार्शनिको का विचार है कि साख्य दार्शनिक जो केवल प्रकृति ही अर्थात् अचेतन प्रधान को सृष्टि का कारण मानते हैं, उसका उपर्युक्त सूत्र निषेध करते हैं, इसलिए इन सूत्रो का उपयोग इस विषय मे नही हो सकता कि अविद्या युक्त सगुण-ब्रह्म कर्त्ता नही है, शुद्ध ब्रह्म ही है ।

केवलाद्वैती यह मानते है कि मायोपाधियुक्त सगुण ब्रह्म मे ही कर्तृत्व आरोपित किया जा सकता है यथा राजा के सेवक राजा के अधीन होने पर भी अपने -अपने कार्यों मे स्वतंत्र होते हैं उनका स्वातन्त्र्याभाव उनके कर्तृत्व मे बाधक नही है उसी पकार ब्रह्म भी मायोपाधि से युक्त होकर सृष्टि करता है। एक अन्य दृष्टान्त देते हुए अद्वैतवादी कहते हैं कि यथा- "घटाकाश चलतीति" अर्थात् "घटाकाश चल रहा है " मे क्रिया घट मे हो रही है, आकाश मे नही किन्तु घटोपाधि के कारण क्रिया का आरोप आकाश पर हो रहा है [47] बिल्कुल यही प्रक्रिया ब्रह्म पर भी लागू होती है । शुद्ध - ब्रह्म सृष्टि नही करता बल्कि मायोपाधि से ग्रस्त ब्रह्म मे ही कर्तृत्व आरोपित करना न्यायोचित है ।

---

46. "कर्तृत्वे स्वातन्त्र्यमेव प्रयोजकम् । "स्वतत्र कर्तेति पाणिनिसूत्रादिति भाव । -हरितोषिणी पृ0 33-34

47. अत्र दृष्टान्तमाहु घटक्रियेवेति । घटस्य चलनेनाकाशश्चलतीति व्यवहार। तत्र घटे क्रिया, न त्वाकाशे, एवमुपाधावेव कर्तृत्व स्यादित्यर्थ ।
- हरितोषिणी , पृ0 34

इसके उत्तर मे विट्ठलनाथ कहते हैं कि अद्वैतियो की यह विचारधारा अनुचित है क्योकि श्रुति ब्रह्म को कर्त्ता एवं कारण घोषित करती है -

" यतो वा इमानि भूतानि § तैत्तिरीयोपनिषद् 3/1 §

" सन्मूला सौम्येमा सर्वा प्रजा. सदायतना सत्प्रतिष्ठा§छांदोग्य0 6/8/4§

" तदैक्षत, बहुस्या प्रजायेमेति , तत्तेजोऽसृजत § छांदोग्य 0 6/2/3§

केवलाद्वैतियो की बात मानने पर श्रुति का विरोध होगा ।[48]

ब्रह्मसूत्र के प्रारम्भ मे ही "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा §वेदान्त सूत्र 1/1/1§ इस सूत्र से यह उद्घोषित किया गया है कि वेदव्यास इस ग्रन्थ मे निर्गुणब्रह्म पर विचार प्रस्तुत करेंगे इसके अनन्तर ही "जन्माद्यस्ययत " §वेदान्तसूत्र 1/1/2§ सूत्र से ब्रह्म को जगत् की सृष्टि स्थिति तथा लय का कर्त्ता बताया गया है।

अद्वैतियो के विचार से श्रुतियो ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन उभय प्रकार से करती हैं । प्रथमत. "सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [49] रूप से ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप का परिचय देती है, द्वितीयत. वह जगत् कार्यों के सम्बन्ध से ब्रह्म का परिचय

---

48. ------'because the scriptures declaring Brahama to be the creator or the cause, Such as 'From where, all these beings etc.' would be violated.' - The Philosophy of Vallabhacharya - m.l. Marfatia Page, 245

49. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवल्ली ।

कराती हैं, यथा " यतो वा इमानि " 50 इत्यादि ।

इनमे प्रथमोक्त वचन साक्षात् ब्रह्म-स्वरूपपरिचायक होने से मुख्य है और अनन्तरोक्त केवल कार्य-सम्बन्ध से ब्रह्म के उपलक्षक हैं इसलिए गौण हैं ।[51]

ब्रह्म के कार्यत्व को प्रदर्शित करने वाली श्रुतियो को "गुणे त्वन्यायकल्पना" (अर्थात् गौण अश मे लक्षणा, उपचार आदि की कल्पना की जाती है) न्याय से मुख्य मान लिया गया है । अत "जन्माद्यस्य यत " सूत्र निर्गुण ब्रह्म का स्वरूप लक्षण नही माना जा सकता है यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है ।

निर्गुण ब्रह्म जगत्कर्त्ता है -

वल्लभाचार्य जी के कथनानुसार "यदि जगत्कर्त्ता को गौण मानेंगे तो उसकी निष्ठा करने वाला ससार को ही प्राप्त करेगा, मोक्ष को नहीं ।[52]

"हेयत्वावचनाच्च " (1/1/7) सूत्र का भाष्य करते हुए आचार्य जी कहते हैं कि " इसलिए भी निर्गुण ब्रह्म ही जगत् कर्त्ता है क्योकि वेदान्तों मे जहाँ साधनो का उल्लेख है वहाँ जगत्कर्त्ता को पुत्रादि की तरह हेय रूप से नही दिखलाया गया है । यदि जगत्कर्त्ता सगुण है तो प्राकृत गुणो से

50. तैत्तिरीयोपनिषद्

51. सटीक विद्वन्मण्डनम् का हिन्दी निष्कर्ष - पृ0 6

52. "तत्र यदि जगत्कर्त्ता गौण स्यात् तन्निष्ठस्य संसार एव स्यान्न मोक्ष ।"

— ब्रह्मसूत्र भाष्य, वल्लभाचार्य, 1/1/6

मुक्त होने के लिए वह मुमुक्षुओ का उपास्य नही हो सकता, जैसे कि पुत्रादि। "[53]

यदि "सत्यज्ञानमनन्तंब्रह्म" [54] यह श्रुति निर्गुण ब्रह्म का वर्णन करती है तो " तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सभूत "[55] इत्यादि कथन ब्रह्म को सृष्टि कर्त्ता बताये तो यह संभव नही, क्योकि ऐसा मानने मे प्रकरण -विरोध है। इसके अतिरिक्त सगुण एव निर्गुण ब्रह्म-भेद की कल्पना कर गुणावबोधन कराने वाली श्रुतियो को सगुण ब्रह्म तथा ब्रह्म बोधिका श्रुतियों को निर्गुण ब्रह्म परक स्वीकार करने मे " सर्ववेदा यत्पदमामनन्ति [56] तथा "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो "[57] .. आदि श्रुति भी बाधिका है क्योकि इनमे स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सभी वेद एक ही ब्रह्म का वर्णन करते हैं। केवलाद्वैती जिनको सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वर मानते हैं वे श्रीकृष्ण भी श्रीमद्-भगवद्गीता के "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य: " इस कथन के द्वारा केवल अपने ही स्वरूप को सब वेदो से ज्ञेय बताते हैं। इसलिए सगुण-निर्गुण ब्रह्म-भेद स्वल्प भी माननीय नही हो सकता, कर्तृत्व आदि सब गुणो को ब्रह्म मे वास्तविक मानना ही ठीक है। यदि सगुण एवं निर्गुण के भेद को स्वीकार करेंगे तो श्रुति- विरोध उपस्थित होगा, अत केवलाद्वैती की भेद विषयक मान्यता

---

53. इतोऽपि निर्गुण एवं . . ... पुत्रादिवत् ।"
– ब्रह्मसूत्र- भाष्य 1/1/7

54. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवल्ली
55. तैत्तिरीयोपनिषद्, ब्रह्मवल्ली

56 सभी वेद जिस ब्रह्म का वर्णन करते हैं।

57. श्रीमद्भगवद्गीता

असगत है ।[58]

इस तरह से यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म को निर्गुण घोषित करने वाली श्रुतियाँ उसे लौकिक गुणों से रहित बताती हैं किन्तु उसे अलौकिक दिव्य तथा कर्तृत्वादि गुणो से रहित कदापि नही घोषित करती हैं ।

श्रुति ब्रह्म के कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व दोनों का ही वर्णन करती है। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते " तथा " असगो हि अय पुरूषः " रूप से । इस स्थिति मे ब्रह्म को "विरूद्ध धर्माश्रयी" स्वीकार करके उसे कर्तृत्व तथा अकर्तृत्व दोनो का ही आश्रय माना जाये अथवा दोनो मे से किसी एक को स्वीकार किया जाये । ऐसी स्थिति मे यही होगा कि कर्तृत्व को लौकिक मानकर उसे ही अस्वीकार किया जाये ।

किन्तु डा० राजलक्ष्मी वर्मा[59] के शब्दो मे " ऐसा करना इसलिए

---

58. Then Vithala asks the Kevaladvaitin how the auther of the B.S. could lay down as the principal statement that the Nirguna Br. is the object of (man's) desire to know and then describe its characteristics as the one from whom the world originates (which the opponent assigns to the Saguna Bramha). - The Philosophy of Vallabhacharya
- Mridula Marfatia
Page 245

59. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन - डा० राजलक्ष्मी वर्मा पृष्ठ 102

सभव नही है क्योकि श्रुति सर्वत्र ब्रह्म को " ईक्षण" क्रिया का कर्त्ता कहती है - " स ऐक्षत" (ऐतरेय0 1/1) । ब्रह्म की यह ईक्षण क्रिया प्रकृति आदि के सम्बन्ध से नही अपितु सर्वथा स्वतत्र है, क्योकि ईक्षण क्रिया के साथ कर्त्ता रूप मे "आत्मा" शब्द का ही सम्बन्ध है । . . ..... . "आत्मा " शब्द समस्त वेदान्त मे निर्गुण परब्रह्म के अर्थ मे ही रूढ़ है। "

वल्लभाचार्य जी के विचार से निर्गुण ब्रह्म ही कर्त्ता माना जा सकता है क्योकि कर्त्ता स्वतत्र होता है । जो सगुण होता है वह परतत्र होता है इसीलिए सगुण प्रकृति ,परमाणु आदि का सृष्टिकर्तृत्व नही है ।[60]

<u>ब्रह्म का कर्तृत्व अलौकिक है -</u>

ब्रह्म का कर्तृत्व लौकिक नही है अपितु अलौकिक है अणुभाष्य[61] मे कहा गया है कि देहादि को आत्मा मानने वाले ससारी जीव को जगत्कर्त्ता नही माना जा सकता है , प्रापञ्चिक कर्तृत्व मे तो मूढता वश जीव को कर्तृत्व -अभिमान हो भी सकता है किन्तु अलौकिक सृष्टि मे वह भी नही । भौतिक देव तिर्यङ , मनुष्यो से युक्त , मानसिक कल्पना से भी परे, असख्य लोको और ब्रह्माण्डो की अद्भुत सरचना से समन्वित इस सृष्टि का अनायास ही उत्पत्ति, स्थिति और विनाश लौकिक कर्तृत्व से परे है अत. ब्रह्म का कर्तृत्व अलौकिक ही मानना चाहिए ।[62]

---

60. स्वातत्र्याभावेन सगुणस्य कर्तृत्वाडयोगात् वेदाश्च प्रमाणभूता ।
 - अणुभाष्य 1/1/5

61. अणुभाष्य 1/1/2

62. अनेक भूत भौतिक देवतिर्यङ् मनुष्यानेकलोकाद्भुतरचनायुक्त ब्रह्माण्ड कोटि रूपस्य मनसाप्याकलयितुम्, अशक्यरचनस्यानायासेनोत्पत्तिस्थिति भग करण न लौकिकम् ।"

ब्रह्म को जगत्कर्त्ता गौण अर्थ मे नही माना जाता है क्योकि गौण अर्थ मे मानने पर तो कर्तृत्व किसी अन्य का सिद्ध करना पड़ेगा , सूत्रकार ने प्रकृति तथा जीव के कर्तृत्व का निराकरण स्वय ही कर दिया है जड तथा जीव का निराकरण करने से अन्य साधन स्वय ही निराकृत हो गये अतएव एकमात्र ब्रह्म ही कर्त्ता सिद्ध होता है।[63]

अध्यारोप तथा अपवाद का खण्डन -

विट्ठलनाथ ने "विद्वन्मण्डनम् " मे शकर द्वारा प्रस्थापित सिद्धान्त अध्यारोप तथा अपवाद का खण्डन किया है । उनके खण्डन को प्रस्तुत करने के पूर्व, पूर्वपक्ष की विचारधारा से अवगत होना आवश्यक है। उनके अनुसार ब्रह्म का जगत्कर्तृत्व श्रुति सिद्ध नही है । एक ओर श्रुति "आत्मा वाडरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य कहती है तो दूसरी ओर यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह " के द्वारा निषेध करती है। ऐसी स्थिति मे "प्रक्षालनाद्धि पकस्य दूरादस्पर्शन वरम् " अर्थात् कीचड़ लगने पर धोने की अपेक्षा यह श्रेयस्कर है कि मनुष्य कीचड़ लगने ही न दे इस न्याय के अनुसार ब्रह्म के कर्तृत्व का प्रतिपादन व्यर्थता को प्राप्त होता है ।

---

63. नोपचारोपन्यायेन वक्तु शक्यम् । तथा सत्यन्यस्य स्यात् ।
तत्र न प्रकृते । अग्रे स्वयमेवनिषिध्यमानत्वात् । न जीवानामस्वातन्त्र्यात् ।
न चान्येषामुभयनिषेधादेव । तस्माद्ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम् ।

— अणुभाष्य 1/1/2

शंकर के विचार से कर्तृत्व का प्रतिपादन करने वाली श्रुति पूर्णतया असंगत नहीं है क्योंकि इनकी उपयोगिता दुर्ज्ञेय ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने मे सहायता प्राप्त करने मे है जिसे शास्त्रीय भाषा मे "अध्यारोप एवं अपवाद " कहते हैं । सगुण ब्रह्मपरक श्रुति पहले ब्रह्म के कर्तृत्व का विधान करती है जब साधक की बुद्धि औपाधिक ब्रह्म अर्थात् सगुण ब्रह्म मे स्थिर हो जाती है तब उस अध्यारोप अथवा उपाधि का खण्डन करके साधक को निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति की ओर प्रेरित किया जाता है। इस सन्दर्भ में " शाखा अरून्धती न्याय " का दृष्टान्त प्रस्तुत किया जा सकता है । जिस प्रकार सूक्ष्म नक्षत्र अरून्धती शीघ्र दृष्टिपथ मे नही आता उसके ज्ञान के लिए किसी वृक्ष की शाखा के निकट विद्यमान बड़े नक्षत्र को पहले अरून्धती के रूप मे दिखाया जाता है उसके बाद धीरे-धीरे सूक्ष्म नक्षत्र अरून्धती का ज्ञान कराया जाता है । उसी प्रकार श्रुतियो मे पहले ब्रह्म का जगत्कर्तृत्व वर्णित है उसके द्वारा साधक की बुद्धि स्थिर हो जाने पर जगत्कर्तृत्व का खण्डन करके ब्रह्म को अकर्तृ सिद्ध किया गया है।[64]

कहने का तात्पर्य यह है कि जब अधिकारी का मस्तिष्क सगुण श्रुतियो के ज्ञान के द्वारा स्थिर हो जाता है तब उसी आधार पीठिका पर सर्वोच्च एवं अनुपास्य, दुर्ज्ञेय निर्गुण ब्रह्मानुभूति का मार्ग प्रशस्त होता है । शंकर का यह सिद्धान्त, अध्यारोप एवं तत्पश्चात् उसके खण्डन पर विट्ठल के द्वारा तीव्र आपत्ति व्यक्त की गयी है। उनके अनुसार यह सिद्धान्त अनौचित्यपूर्ण

---

64. हरितोषिणी , पृ0 39, 40

है क्योंकि इससे जगत् की अप्रतीति का प्रसग उपस्थित हो जाता है । जगत्प्रतीति श्रुति सिद्ध नही है जैसा कि आपके मत मे श्रुति पहले कर्तृत्व का विधान करती है पुन उसका निषेध भी कर देती है । किन्तु जग प्रतीति लोक सिद्ध है तथा इसका कोई कर्त्ता है यह भी लोक सिद्ध है। हम लोक मे कार्य को देखकर कर्त्ता की अपेक्षा करते हैं जैसे "घट रूपी कार्य को देखकर उसके कर्त्ता कुम्भकार का अनुमान होता है वैसे ही जगत् रूपी कार्य को देखकर उससे कर्त्ता की अपेक्षा होती है।[63] जिस प्रकार शुक्ति मे रजत की प्रतीति होती है परन्तु वह वास्तविक नही होती उसी प्रकार कर्ता के बिना कार्य के अभाव की प्रतीति §कार्यस्याभावाप्रतीति § रजतप्रतीति के समान भ्रमात्मक है। यदि ब्रह्म के "कर्तृत्व" को अस्वीकार किया जायेगा तो ब्रह्म के अतिरिक्त कोई भी " कर्तृत्व" के योग्य नही है कर्ता के अभाव मे जगत् की स्थिति असभव है। कार्य की प्रतीति हो रही है किन्तु कर्त्ता का अभाव है इस प्रकार के अर्थ का बोधन कराने वाली श्रुति अपने द्वारा व्यक्त कथन को ही बाधित कर देती है इस प्रकार को श्रुति का यह कथन वैसे ही हुआ जैसे कि कोई पुरूष जिस डाल पर बैठा हो उसी को काट रहा हो अथवा यह कहना कि " मेरी माँ बाँझ है । " इस प्रकार की अनुपपत्ति अक्षम्य है । अत ब्रह्म के कर्तृत्व को वास्तविक ही मानना चाहिए ।

## ब्रह्म का कर्तृत्व वास्तविक है -

विट्ठल के प्रत्युत्तर में अद्वैतवादी कहते हैं कि शुद्धाद्वैतियो द्वारा

---

65. कार्यं तु दृश्यते, कर्ता न दृश्यत इत्यत कर्त्रपेक्षायामित्यर्थ ।

मान्य कि ब्रह्म का कर्तृत्व वास्तविक है तभी सम्भव है जबकि ब्रह्म किसी का कर्त्ता सिद्ध हो क्योंकि जिस जगत् को शुद्धाद्वैती ब्रह्म का कार्य स्वीकार करते हैं वह कोई वस्तु है ही नही जो दिखाई देता है उसे वासना या सस्कार कहते हैं । जिस प्रकार दिन में देखे हुए पदार्थों की आकृति हृदय पटल पर अंकित हो जाती है उसी प्रकार कल्पान्तर मे भ्रम से देखे गये पदार्थों की हृदय पटल पर सस्कार चित्रित हो जाते है उसी के प्रकट होने से यह जगत् दृष्टिगोचर होता है। वस्तुत जगत् शुक्ति मे आभासित रजत के सदृश मिथ्या है इसे किसी भी कर्ता की आवश्यकता नही है इसके अतिरिक्त न तो श्रुति में और न लोक मे ब्रह्म का कोई कार्य प्रसिद्ध है अत ब्रह्म मे कर्तृत्व आदि गुणो को वास्तविक बताना असगत है ।

शकराचार्य के इस विवेचन का खण्डन करते हुए विट्ठल कहते हैं कि यह सिद्धान्त तार्किकता की दृष्टि से असगत है क्योंकि व्यक्ति प्रथम किसी वस्तु का अनुभव प्राप्त करता है तदुपरान्त उसके सस्कार हृदय पर अंकित होते हैं । पूर्वपक्षी के कथनानुसार जब जगत् की प्रतीति मिथ्यात्मक है अर्थात् जगत् है ही नहीं तब " प्राथमिक अनुभव " किस प्रकार हुआ तथा बिना अनुभव के सस्कार कैसे बन सकते हैं ।[66]

---

66. ------it is not logical, because the innate desires are born of experience, and since the world is said to be non-existent, how can there be the very first experience ? (Prathami Kanubhmah)

-The Philosophy of Vallabhacarya

- M. Marfatia, Page 247

इसके अतिरिक्त जगत् स्वप्न मे देखी गयी वस्तुओ के समान अवास्तविक नही हो सकता ।

पूर्वपक्षी का कथन है कि वासना का प्रवाह अनादि है । [67] भ्रम से वासना जन्म लेती है और वासना से पुन भ्रम होता है। जिस वासना से जगत्प्रतीति हो रही है वह पूर्वजन्म के भ्रमात्मक अनुभव से उत्पन्न हुई है और वह अनुभव भी अपने पूर्व के अनुभव के आधार पर उत्पन्न हुआ है, इस अनादि प्रवाह को स्पष्ट करने के लिए हम यह दृष्टान्त दे सकते है कि जैसे बीजाकुर से वृक्ष उत्पन्न होता है और वृक्ष से पुन बीज हो जाता है, इस प्रकार बीज एव वृक्ष का यह अनादि क्रम चलता रहता है । [68]

विट्ठलनाथ का मन्तव्य है कि मनुष्य एक समय मे अनेक वस्तुओ का अनुभव करता है किन्तु पुर्नस्मरण के समय कुछ ही वस्तुओ का स्मरण होता है, इससे यही सिद्ध होता है कि सभी अनुभवो से सस्कार अर्थात् वासना नही उत्पन्न होती, केवल निश्चयात्मक अनुभवो के ही सस्कार बनते है । "जिन जन्मान्तरीय या कल्पान्तरीय अनुभवो की वासनाओ से इस समय यह जगत् प्रतीत हो रहा है वह सब निश्चयात्मक थे यह नही कह सकते क्योकि लोक मे ऐसा कोई दृष्टान्त नही है । अत वासना से यदि जगत् प्रतीत होता है तो लोक मे कोई ऐसा उदाहरण भी दृष्टिगोचर होना चाहिए कि कोई दर्शन योग्य स्थूलाकार पदार्थ एक मनुष्य को दिखायी देता और वही पास मे खड़े

---

67 वासनासन्तानाऽनादित्वेन ।
— सुवर्णसूत्रम्, पृ0 4।

68. हरितोषिणी, पृ0 4।

हुए दूसरे अच्छे चक्षुष्मान् मनुष्य को नही दीखता है । "[69]

विट्ठल पूर्वपक्षी के मत का प्रतिकार करते हुए कहते हैं कि वासना की उत्पत्ति का साधन क्या है ? यह न तो कोई दृश्य वस्तु है और न अदृश्य । वेदव्यास ने " वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् " 2/2/9/ सूत्र मे कहा है कि जगत् स्वप्न दृष्ट पदार्थों जैसा नही है। स्वप्न मे देखी गयी वस्तु स्वप्नान्त हो जाने पर अदृश्य हो जाती है किन्तु जाग्रत अवस्था मे देखा गया गृहादि दस वर्ष के अनन्तर भी दिखायी देता है ।[70] जगत् को वासनात्मक मानने से मोक्ष भी अनुपपन्न हो जायेगा अर्थात् जब सब कुछ असत्य ही है तो किसका बन्धन और किसी मुक्ति ? इस तरह तो सभी प्राणी मुक्त हुए ।

इस प्रकार विट्ठल ब्रह्म का कर्तृत्व वास्तविक मानते हैं । ब्रह्म सृष्टि के रूप मे परिणमित होता है किन्तु उसके स्वरूप मे किसी प्रकार की विकृति नही आती । समस्त उपाधियो से रहित विशुद्ध ब्रह्म ही सृष्टि का एक मात्र कर्त्ता है।

विट्ठलेश्वर वल्लभाचार्य सम्मत ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादान कारणत्व" तथा अविकृत परिणामवादत्व स्वीकार करते हैं । विट्ठलेश्वर ने

---

69. सटीक विद्वन्मण्डनम् का हिन्दी निष्कर्ष - जगन्नाथ पृ0 8

70. स्वप्ने दृष्टस्य पुनस्तदेव तथैव स्वप्नान्तरे दृश्यत इति नास्ति, जाग्रदवस्थायां तु दृष्टस्य गृहादे पुनर्दशवर्षोत्तरमपि तस्य तथैव दर्शनमस्तीति स्वप्नाद्यपेक्षया वैलक्षण्यमिति भाव ।

- हरितोषिणी, पृ0 43

विद्वन्मण्डनम् में इस सन्दर्भ मे कोई तार्किक विवेचन नही प्रस्तुत किया है ।

शुद्धाद्वैतियो के विचार से ब्रह्म इस जगत् का निमित्त एव उपादान दोनो ही कारण है इन शब्दो के पूर्व वल्लभाचार्य ने "अभिन्न" विशेषण सपृक्त कर दिया । जैसे मकड़ी अपना जाला स्वय अपने ही तन्तुओं से बनाती है उसी प्रकार अपने स्वरूप से सृष्टि की रचना करता है।

अविकृत परिणामवाद का उल्लेख अनेकश किया जा चुका है, जैसे सोना आभूषणो के रूप मे परिवर्तित हो जाता है और उसके स्वरूप मे कोई विकार नही आता उसी प्रकार ब्रह्म भी जीव जड़ादि के रूप मे विकारग्रस्त हुए बिना परिणमित हो जाता है। ब्रह्म के अविकृतपरिणामवाद एव अभिन्ननिमित्तोपादान कारणत्व का विवेचन " शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण धारणाये नामक अध्याय मे किया गया है ।

ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ -

अपनी कार्यकरणात्मिका शक्ति माया के द्वारा ब्रह्म सृष्टि रूप मे परिमणित होता है । श्रुतियो मे अनेक स्थल पर ब्रह्म के एक से अनेक रूप मे परिणमित होने की बात कही गयी है -"एकोऽह बहुस्याम् " । ब्रह्म के एक और अनेक होने के क्रम मे वल्लभ कई स्थितियाँ स्वीकार करते हैं - अक्षर, अन्तर्यामी, जीव, जड़, काल, कर्म, स्वभाव आदि ।[78]

---

78. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डा० राजलक्ष्मी वर्मा पृ० 94

परब्रह्म की सर्वप्रथम अभिव्यक्ति है अक्षर । "परब्रह्म" की जगत् सिसृक्षा मात्र से किञ्चित् आनन्द तिरोभूत हो जाता है, जिससे अक्षर का रूप आविर्भूत होता है । "[79] यही है अक्षर का स्वरूप । इसमे परब्रह्म की अपेक्षा अल्प -आनन्द होता है इसीलिए इसे "गणितानन्द " कहते हैं । अक्षर ही समस्त सृष्टि का उत्पत्ति-स्थान है तथा इसमे ही समस्त वस्तु जात की स्थिति है - जिस तरह मकड़ी अपने जाले का निर्माण करती है और उसके बाद उसे निगल जाती है, जिस तरह से पृथ्वी से विभिन्न प्रकार की औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार जीवित मनुष्य से केशादि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर से इस सृष्टि का समस्त वस्तुजात उत्पन्न होता है।[80]

वल्लभाचार्य जी ने अणुभाष्य मे कहा है कि - ब्रह्म ईषदानन्द तिरोहित भाव से युक्त होकर अक्षर कहलाता है ।[81] अक्षर को पुरूषोत्तम का चरण स्थानीय भी कहा गया है । ज्ञानियो का उपास्य अक्षर ही है।

काल, कर्म, और स्वभाव अक्षर के अन्य रूप हैं । "काल" ब्रह्म" का सत् अंश प्रधान रूप है इसमे चित् और आनन्द तिरोभूत रहते हैं, किन्तु काल और जड़ एक ही नही है अत जड़ तत्व से विलक्षणता प्रदर्शित करने के लिए काल को " ईषत्सत्त्वांश प्रकट" कहा गया है । " कर्म" भगवद्रूप है एवं उसमे चिदानंद तिरोहित रहता है । "स्वभाव" भगवान् की इच्छा से आविर्भूत

---

79. ब्रह्मसूत्रो के वैष्णव भाष्यो का तुलनात्मक अध्ययन
  -डा० रामकृष्ण आचार्य

80. मुण्डकोपनिषद् 1/1/7

81. ईषदानन्दतिरोभावेन ब्रह्माक्षरम् उच्यते ।
  अणुभाष्य 1/2/21

होता है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि परब्रह्म श्रीकृष्ण एव अक्षर मे कोई अन्तर नही है, श्री कृष्ण ही अक्षर रूप से सृष्टि करते हैं । सृष्टि प्रक्रिया के समय अक्षर से अट्ठाइस तत्व उद्भूत होते हैं - सत्व, रजस्, तमस्, पुरूष, प्रकृति महत्, अहकार, पच तन्मात्र, पचमहाभूत , पचकर्मेन्द्रियाँ पच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन ।

ब्रह्म की द्वितीय अभिव्यक्ति अन्तर्यामी है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है अर्थात् उसमे "सत्" चित् तथा आनन्द" इन तीन धर्मों का प्राधान्य है, इसमे सदंश से जड, सत् एव चित् अश से जीव की अभिव्यक्ति होती और जिसमे सत्, चित् तथा आनन्द सभी प्रकट हैं, अर्थात् जो पूर्ण सच्चिदानन्द है उसे अन्तर्यामी कहते हैं । [82]

जड़ो मे चित् और आनन्द के तिरोहित होने से उत्पत्ति, विनाश, उपचय, अपचय आदि विकार दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु जीवो में चित् का तिरोभाव न होने से उनमे नही होते, आनन्द का तिरोभाव होने से दु खमात्र प्रतीत होता है। अन्तर्यामियों मे उक्त धर्मों मे से किसी का तिरोभाव नही है इसलिए इनमे उक्त वाह्य और आन्तर कोई भी विकार प्रतीत नही होते ।[83] जीवों की तरह अन्तर्यामी भी अनन्त होते है । ये जीवों का अन्तर्यमन करते हैं अत प्रत्येक जीव का अन्तर्यामी भी अलग-अलग होता है ।

---

82. विद्वन्मण्डनम्, पृ0 156 द्रष्टव्य

83. सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष पृ0 53

अक्षर और अन्तर्यामी मे मात्र इतना अन्तर है कि अक्षर मे आनन्द किंचित् तिरोहित रहता है जबकि अन्तर्यामी पूर्ण सच्चिदानन्द होता है ।

यहाँ पर यह शका हो सकती है कि जब अन्तर्यामी पूर्ण सच्चिदानन्द है और परब्रह्म भी पूर्ण सच्चिदानन्द है तब इन दोनो मे भेद क्या है ? इसके उत्तर मे कहते हैं कि अन्तर्यामी प्रत्येक जीव मे अलग-अलग होते हैं और वे उनके अन्दर निवास करते हुए नियमन करते हैं जब कि परब्रह्म किसी भी सीमाबन्धन मे नही बँधता वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र एव अपरिच्छिन्न है ।

इस प्रकार जड, जीव और अन्तर्यामी के मध्य स्वरूप भेद होता है ।

इस स्थल पर पूर्वपक्षी अपनी शका व्यक्त करते हुए कहता है कि जड, जीव एव अन्तर्यामियो का जो स्वरूप भेद है वह आदि है अथवा अनादि ? अनादि हो नही सकता क्योकि अनादि की उत्पत्ति नही हो सकती यदि आदि माने तो जड़ एव जीवो की उत्पत्ति जब हुई तब उनके पूर्व कर्म तो थे ही नही ?

इस प्रकार की शंका का समाधान करते हुए विट्ठल कहते है कि परब्रह्म सर्व समर्थ एव सर्व स्वतत्र है अत वह किसी के कर्मों के अधीन नही है, वह अपनी इच्छा से सृष्टि करता है। जड़ जीव एव अन्तर्यामियों का स्वरूप भेद अनादि नही है ।

जड जीव एव अन्तर्यामी ब्रह्म स्वरूप है अत ब्रह्म जब क्रीडा के लिए जगत्सृष्टि करता है और उनमे पारस्परिक विचित्रता करने से अर्थात् किसी मे चिदानन्द तिरोहित कर देने से अथवा किसी मे आनन्द तिरोहित करने से ब्रह्म की आप्तकामता एवं दयालुता भग नही होती । जैसे एक लौकिक राजा अपने विहार के लिए अर्थात् आनन्द के लिए प्राचीन भवनो को भग करके वहाँ उद्यान बनाने का आदेश दे सकता है तो राजाओ का राजा परब्रह्म अपनी इच्छानुसार जीवो कीसृष्टि क्यों नहीं कर सकता ?[84] अतएव ब्रह्म जगत्सृष्टि क्रीड़ा के लिए ही करता है । ब्रह्म ही सर्वकर्त्ता ,सर्वभोक्ता और सर्वनियन्ता है सारा विश्व ही भगवद्रूप है।

यह अध्याय अत्यन्त विस्तृत हो जाने के कारण" प्रापचिक विचित्रता मे ईश्वर की इच्छा ही हेतु है" का विवरण अग्रिम अध्यायो मे समयानुसार किया गया है ।

ब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है –

ब्रह्म को लौकिक इन्द्रियो के द्वारा नही देखा जा सकता किन्तु जब भगवान् की कृपा हो जाती है तब उनके दर्शन किये जा सकते है। वल्लभाचार्य के अनुसार सम्यक् सेवा से सन्तुष्ट होने पर ब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है ।[85] साधक की भावना के अनुसार साकार अथवा निराकार दोनो ही रूपो का दर्शन हो सकता है । ब्रह्म द्रष्टव्य है इसका विवरण"लीला" नामक अध्याय

---

84. विद्वन्मण्डनम् , पृ0 157 द्रष्टव्य ।

85 अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् अणुभाष्य 3/2/24

मे भी किया गया है ।

श्री विट्ठल ने " ब्रह्म" का प्रत्यक्ष होता है इस धारणा को तर्क सवलित रूप देने का प्रयास किया है । उनके द्वारा प्रस्तुत तर्क संक्षेप मे इस प्रकार है -

कठोपनिषद् मे वर्णित " पराञ्चि खानि 2/1, से यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म आविद्यक इन्द्रियो का विषय नही है और पुन कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मामैक्षदावृत्त-चक्षुरमृतत्वमिच्छन्" ( कठोपनिषद 2/1 ) मे कहा गया है कि ब्रह्म अविद्या रहित इन्द्रियो का विषय है। "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु त पश्यते निष्कल ध्यायमान" मे ज्ञानवान् का ही ब्रह्मदर्शन कहा गया है । ज्ञाननाश्य होने के कारण अविद्या इस समय उपस्थित नही रह सकती और " निष्कल" " प्रत्यगात्मन् " इत्यादि पदो से श्रुति अविद्या-रहित ब्रह्म का ही कथन करती है । आविद्यक ब्रह्म स्वीकार करने पर अविद्या के वर्तमान रहने से ब्रह्म का वास्तविक रूप प्रकट नही होगा इसके फलस्वरूप दर्शन क्रिया के कर्म की उपपत्ति नही होगी ।[86] इसके साथ ही निर्विशेष ब्रह्म का दर्शन न मानने पर "ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति " वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्य "तस्मिन् दृष्टेपरावरे " इत्यादि श्रुतियो का विरोध भी होगा । जो वस्तु दृश्य नही है, उसमे अविद्या विशेषों की कल्पना नही कर सकती और जब तक विशेषो की कल्पना नहीं कर सकती और जब तक विशेषों की कल्पना

---

86 अविद्यालेशसत्तासमये वास्तव स्वरूपस्यागोचरत्वाद्दर्शनक्रिया-कर्मत्वानुपपत्ते· । -

-सुवर्णसूत्रम् , पृ0 207

नही होती वहवस्तु दृश्य नहीं हो सकती । इसी तरह जब अविद्या विशेषो की कल्पना करेगी तभी ब्रह्म दृश्य होगा और जब दृश्य होगा तभी उसमें विशेषो की कल्पना सभव हो सकेगी इस प्रकार यहाँ अन्योन्याश्रय दोष" उत्पन्न हो जायेगा ।

श्री विट्ठलनाथ ने प्राय अनेकश वल्लभाचार्य के सिद्धान्तो का दृढ़ीकरण किया है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह ज्ञात होता है ब्रह्म दृश्य एव ज्ञेय है। ब्रह्म को दृश्य मानने पर मन मे स्वाभाविक रूप से ही यह प्रश्न उठता है कि दृश्यमान् होने पर ब्रह्म के शरीर और इन्द्रियाँ भी होनी चाहिए यदि ब्रह्म के अवयव हैं तो वे प्राकृत हैं अथवा अप्राकृत ? इस पर विट्ठल कहते हैं कि " न तस्य कार्यं करण च विद्यते "[87] श्रुति का यह अर्थ नही है कि ब्रह्म मे कार्यत्व एव देहेन्द्रियादि नही है अपितु ब्रह्म मे जीवो के सदृश लौकिक देहेन्द्रियादि नही है, यह अर्थ है क्योकि "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च अर्थात् ब्रह्म के ज्ञान, बल और क्रिया की स्वाभाविकता का तथा विविध शक्तियो का उल्लेख है। यदि ब्रह्म सर्वथा अवयव रहित, क्रिया रहित होता तो यहाँ पर बल एव क्रिया की स्वाभाविकता का उल्लेख नही होता ।

---

87 श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/8

ब्रह्म का शरीर साधारण शरीर की तरह पचमहाभूतो से निर्मित नही है। ब्रह्म का विग्रह आनन्दमय एवं दिव्य है। आनन्दयुक्त होने के कारण ही ब्रह्म को "विग्रहवान्" कहा जाता है। आनन्द से रहित होने पर ब्रह्म "निराकार" हो जाता है। शुद्धाद्वैत दर्शन मे "आनन्द" को ही विग्रह अर्थात् आकार समर्पक माना गया है। अतएव श्वेताश्वतर उपनिषद् मे कहा गया है कि - "ब्रह्म के स्वरूप मे सर्वत्र कर, चरण और मुख, चक्षु, नासिका इत्यादि अवयव हैं, इस तरह का यह ब्रह्म स्वरूप सबको आवृत करके स्थित है।[88] ब्रह्म के ये अवयव अलौकिक है इस प्रकार के स्वरूप भत शरीर एव इन्द्रियो से ब्रह्म को कोई हानि नही उठानी पड़ती। विट्ठलनाथ कहते हैं कि ब्रह्म के स्वरूप मे जो चक्षु इत्यादि इन्द्रियाँ हैं और उनके द्वारा ग्राह्य गुण है, वे अलौकिक हैं। ब्रह्म ही कर्मेन्दिय और ज्ञानेन्द्रिय रूप से अवभासित होता है। उसके स्वरूप मे लौकिक इन्द्रियादि की शका नही करनी चाहिए, "सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् ' से यही बात कही गयी है।[89]

ब्रह्म का विरूद्धधर्माश्रयत्व-

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे ब्रह्म को वाचिक रूप से ही सगुण निर्गुण साकार - निराकार, सविशेष - निर्विशेष एव सधर्मक एव अधर्मक नही कहा गया है अपितु उसे दर्शन की कसौटी पर भी खरा उतारा गया है। ब्रह्म अणु से भी अणु तथा महान् से भी महान् है, वह कूटस्थ भी है और चल भी है,

88. सर्वत पाणिपादान्त सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।

श्वेताश्वतर उपनिषद्, 3/16

89. विद्वन्मण्डनम् पृ0 222-23 तथा 235 पर द्रष्टव्य।

उसमे कर्तृत्व एव अकर्तृत्व भी है । अत इन परिस्थितियो मे यही सभव है कि उसे ≬ विरूद्ध धर्मों का आश्रय स्वीकार किया जाये ।

यद्यपि कि ब्रह्म मे व्यापकत्व एव परिच्छिन्नत्व का रहना लोक दृष्टि से परस्पर विरूद्ध है किन्तु ब्रह्म का स्वरूप ऐसा विलक्षण है कि उसमे समस्त विरूद्ध-धर्मों का एक साथ समावेश हो जाता है । विट्ठलनाथ ने भागवत पुराण मे " दामोदरलीला" के प्रसग मे श्रीकृष्ण के स्वरूप वर्णन का दृष्टान्त दिया है कि जैसे शुकाचार्यनेंन चान्तर्न बहिर्यस्य' "गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृत यथा " इत्यादि श्लोक के द्वारा यह स्पष्ट कहा है कि " जो जगत् के बाहर भीतर , पूर्व और अपर, सर्वत्र एव सर्वदा विधमान रहता है उसे गोपी ने अपना पुत्र समझकर रस्सी से ओखली मे साधारण मानव की तरह बाँध दिया । इस कथन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्ण इस प्रपन्च के बाहर भीतर सर्वत्र विधमान हैं । अतएव यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म के स्वरूप मे व्यापकता एव परिच्छिन्नता परस्पर विरोध को नही अपितु उसके विरूद्धधर्माश्रयत्व को प्रकट करती है ।

वल्लभाचार्य ने वेदान्तसूत्र 3/2/27 उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् पर भाष्य लिखते हुए कहा है कि - निर्गुण एव अनन्तगुण जो कि परस्पर विरोधी हैं दोनो ही भगवान् के ही धर्म हैं । जैसे सर्प के दो रूप होते हैं ,जैसे वह कभी लम्बा फैलकर एक आकार का प्रतीत होता है और कभी अनेक लपेटो मे विभिन्न आकारो का प्रतीत होता है वैसे ही ब्रह्म भी , भक्त की

कामनानुसार अनेक आकारो मे स्फुरित होता है । प्राय लोक मेभी देखा जाता है कि एक ही व्यक्ति एक ही समय मे परिस्थिति वश दया, क्रूरता आदि परस्पर विरूद्ध व्यवहार शरीर और मन से करता है, फिर भगवान् मे विरूद्धताओ कोमानने मे कौन सी अड़चन है ? [90]

इस तरह श्रुति एव युक्ति दोनो से ही ब्रह्मविरूद्धधर्माश्रयी सिद्ध होता है । इस प्रकार परमसत्ता "ब्रह्म" का दार्शनिक विवेचन इस अध्याय में किया गया, "विट्ठलनाथ की लीला विषयक धारणा नामक अध्याय मे परब्रह्म के अवतारो उनकी नित्यता एव लीला स्थानो का वर्णन कियागया है ।

पूर्वपृष्ठो मे विट्ठलनाथ के परमवस्तु सम्बन्धी सिद्धान्तो की तार्किक निवेचना प्रस्तुत की गयी । प्रस्तुत विवेचना के आधार पर विट्ठलेश्वर की ब्रह्म विषयक अवधारणा कासक्षिप्त सकलन इस प्रकार है – सत्, चित्, एवं आनन्द ब्रह्म के स्वरूप भूत धर्म हैं ।

परब्रह्म सच्चिदानन्द हैं । ब्रह्म के स्वरूप का निर्धारण श्रुति के आधार पर ही किया जाना चाहिए क्योंकि ब्रह्म लौकिक प्रमाण द्वारा ज्ञेय नही है । ब्रह्म सविशेष और विरूद्धधर्माश्रयी है। श्री विट्ठल ने ब्रह्म का सविशेषत्व प्रतिपादित करने के लिए न केवल श्रुति को प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत किया अपितु युक्ति के आधार पर भी ब्रह्म को सविशेष सिद्ध किया ।

---

90. श्रीमद्वल्लभ वेदान्त {अणुभाष्य} पृ0 360 द्रष्टव्य

ब्रह्म का सगुणत्व एव निर्गुणत्व दोनो ही सत्य है । "अस्थूलमनणु " इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म मे सम्पूर्ण धर्मो का निषेध करती है और " सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस इत्यादि श्रुतियाँ जो धर्म जीव एव जड़ो मे प्रतीत होते हैं उन्हें ब्रह्म मे आरोपित करती हैं । ब्रह्म सगुण है इसका तात्पर्य है कि वह दिव्यगुणो से युक्त है, और निर्गुणत्व से तात्पर्य हे कि ब्रह्म मे प्राकृत गुण नही है ।

विट्ठलनाथ ब्रह्म मे किसी प्रकार की उपाधि नही स्वीकार करते । माया ब्रह्म की शक्ति है, माया एव ब्रह्म के बीच अभेद सम्बन्ध होता है। ब्रह्म के धर्म अविद्याकल्पित नही है अपितु अलौकिक एव वास्तविक हैं ।

शुद्ध ब्रह्म से ही सृष्टि होती है, यह सृष्टि ब्रह्म का वास्तविक परिणाम है । अक्षर, अन्तर्यामी, जड, जीवादि ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ हैं । ब्रह्म जीव एव जडादि का स्वरूप भूत होते हुए भी वह उनके विकारो से दूषित नही होता ।

इस प्रकार विट्ठलेश्वर के ब्रह्म विषयक सिद्धान्तो पर विचार करने से निम्नलिखित बाते स्पष्ट होती है -

1- ब्रह्म सविशेष है ।

2- ब्रह्म अलौकिक धर्मों से युक्त है ।

3- ब्रह्म का सगुणत्व और निर्गुणत्व दोनो सत्य है।

4- शुद्ध ब्रह्म से ही सृष्टि होती है ।

5- निर्गुण ब्रह्म ही जगत्कर्त्ता है और उसका कर्तृत्व अलौकिक है।

6- ब्रह्म दृश्य है तथा उसका विरूद्धधर्माश्रयत्व ।

7- ब्रह्म के धर्म अविद्या कल्पित नही है ।

8- ब्रह्म अर्थात् परमवस्तु के भेदो की कल्पना ।

श्री विट्ठलेश्वर की ब्रह्म सम्बन्धी विचारधारा उपनिषद्, गीता एव भागवत पुराण से प्रभावित है, दूसरे शब्दो मे न केवल विट्ठल अपितु उनके पिताश्री और शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक वल्लभाचार्य भी इन्ही तीनो से प्रभावित थे । श्री विट्ठल की विद्वन्मण्डनम् " मे "परमवस्तु" सम्बन्धी विचारधारा किञ्चित् बिखराव युक्त है तथा क्रमानुसार नही है । उनका नैयायिको की तार्किक शैली के प्रति अत्यधिक लगाव सिद्धान्त प्रतिपादन मे तनिक शैथिल्यता देता है । किन्तु यह उनका दोष नही है क्योकि उनकी भूमिका ही शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय के सिद्धान्त प्रतिपादन में पूरक ( ) की रही है ।

## चतुर्थ - अध्याय

## " गोस्वामी विट्ठलनाथ के अनुसार जीव का स्वरूप "

जीव का स्वरूप -

ब्रह्म एव जीव आध्यात्मिक जगत् के दो प्रमुख बिन्दु हैं । यह दोनो परस्पर भिन्न प्रतीत होते हुए भी अविच्छिन्न एव एक हैं । यह सर्वविदित तथ्य है कि ब्रह्म एक अद्वितीय, अनादि, अनन्त, विरूद्ध धर्माश्रयी तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है । इस सृष्टि मे जो कुछ है वह सब ब्रह्म का रूपान्तरण ही हैं ।

आचार्य विट्ठलेश्वर के सिद्धान्तो की पूर्वपीठिका उनके पिताश्री वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित सिद्धान्त ही हैं । अत इस अध्याय मे सर्वप्रथम वल्लभाचार्य द्वारा मान्य जीव सम्बन्धी सिद्धान्तो की सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जायेगी तदुपरान्त विट्ठलेश्वर द्वारा स्वीकृत जीव सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना प्रस्तुत की जायेगी ।

महाप्रभु वल्लभाचार्य के अनुसार जब ईश्वर की रमण करने की इच्छा होती है तब वह सत्, चित् तथा आनन्द स्वरूप में से आनन्दाश को तिरोहित कर स्वय जीवरूप मे आविर्भूत होता है । इस व्यापार में ईश्वर की इच्छा ही प्रधान हेतु है । जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिगो की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार ब्रह्म से जीवों का आविर्भाव होता है [1] जैसे अग्नि विस्फुलिग अग्नि के गुणो से युक्त होता है वैसे ही जीव भी ब्रह्म के गुणो से

---

1. हृदयादौ निर्गता सर्वे निराकारस्तदिच्छया ।
   विस्फुलिगा इवाग्नेस्तु, सदंशेन जडा अपि ।।
   - तत्वदीपनिबन्ध 1/32

युक्त होता है ।

जीव ब्रह्म का सत्चित् प्रधान अंश है। आनन्द का अभाव होने से वह " निराकार" कहलाता है, वह ब्रह्म स्वरूप, नित्य एवं सत्य है । जीव की उत्पत्ति नहीं होती अपितु वह अग्नि स्फुलिंग की भाँति ब्रह्म से आविर्भूत होता है । जीव अणुमात्र है परन्तु अपने चैतन्य गुण से समस्त-शरीरों मे व्याप्त है - " स्वयं विहृत्य स्वय निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति "[2] इस श्रुति के आधार पर वल्लभ का कथन है कि "स्व" शब्द से जीव का अणु होना सिद्ध होता है । यद्यपि जीव अणु है तथापि ब्रह्मांश होने के कारण वह व्यापक भी है ।

अंश रूपी जीव मे अंशी परमात्मा के समस्त गुण विद्यमान होते हैं । ब्रह्म का अंश होने के कारण जीव प्रकाश और गन्ध की भाँति सम्पूर्ण शरीरों में व्याप्त है।

समस्त वैष्णव वेदान्ती तथा अद्वैतवादी शंकराचार्य भी जीव को नित्य तथा उत्पत्ति रहित मानते हैं। इन समस्त आचार्यों की जीव सम्बन्धी मान्यता उनकी परमसत्ता की मान्यता पर आधारित है ।

वल्लभाचार्य की जीव विषयक [illegible] का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के उपरान्त अब अन्य आचार्यों की जीवविषयक धारणा की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है -

---

2. बृहदारण्यक् उपनिषद् 4/3/9

अन्य आचार्यों की जीव विषयक धारणा-

अद्वैतवादी दार्शनिक शकराचार्य एकमात्र ब्रह्म को सत्य मानते हैं, वह जीव को मिथ्या एव औपाधिक मानते हैं । जीव चैतन्यस्वरूप है, चैतन्य धर्मक नहीं । अविद्योपाधि के ससर्ग से ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त होता है। शकर जीव कोनिरवयव स्वीकार करते हैं, उसे ब्रह्म का अश नहीं मानते अपितु अश को " अश इव " के रूप मे ग्रहण करते हैं , वे जीव को परिच्छिन्न एव विभु मानते हैं ।

भास्कराचार्य जीव को सत्य परन्तु औपाधिक मानते हैं । निम्बार्काचार्य जीव तथा ब्रह्म मे अभेद सम्बन्ध मानते हैं ।

मध्वाचार्य जीव को ईश्वर का अश स्वीकार करते हैं किन्तु उनके अनुसार वे उससे भिन्न होते हैं और ब्रह्म एव जीव का तादात्म्य केवल एक दूरस्थ अर्थ मे होता है ।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार यद्यपि "जीव" ईश्वर से नित्य भिन्न होते हैं तथापि वे सजातीय होने के कारण उससे अविभक्त होते हैं ।[3]

रामानुज एव वल्लभ जीव को न तो मिथ्या मानते हैं और न औपाधिक । जीव ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्ति है। अत वह उतना ही सत्य है जितना कि ब्रह्म । " नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव" ब्रह्म के स्वरूप मे किसी उपाधि

---

3. सुवर्णसूत्रम् - पुरूषोत्तम जी, पृ0 85 द्रष्टव्य

के लिए अवकाश नही है। वह जब विश्व से अपनी लीला का विस्तार करता है तब अपनी सर्वभवन-सामर्थ्य से स्वय ही जीव रूप से अवतीर्ण होता है। इस प्रकार जीवभाव औपाधिक नहीं अपितु सहज या स्वाभाविक है ।[4]

आचार्य वल्लभ मानते हैं कि जीव ब्रह्म की एक अवस्था विशेष है, ब्रह्म ही भोगार्थ भोक्ता जीव के रूप मे आविर्भूत होता है ।[5] अतएव जीव मिथ्या न होकर ब्रह्म जितना ही सत्य एवं वास्तविक है ।

यद्यपि वल्लभ एव रामानुज सिद्धान्तों के विषय मे ऐकमत्य हैं किन्तु रामानुज जीव को ब्रह्म का कार्य कहते हैं जबकि वल्लभ जीव को कार्य नहीं मानते हैं । रामानुज के अनुसार - " कार्यत्व हि नामैकस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्ति , तज्जीवस्याप्यस्त्यैव [6] अर्थात् द्रव्य का अवस्थान्तर को प्राप्त हो जाना कार्यत्व है, अत ब्रह्म का अवस्थान्तर को प्राप्त हो जाना अर्थात् जीव भाव को प्राप्त होना ही उसका कार्यत्व है। किन्तु उसकी उत्पत्ति वियदादि की भाँति नही समझना चाहिए ।[7]

---

4. "आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन"-
 -डा० राजलक्ष्मी वर्मा

5. भगवतोऽवस्थाविशेषो जीव , प्राकृत भोगार्थं तामवस्था सम्पादितवानित्यर्थ-
 -श्रीमद्भागवत पर सुबोधिनी टीका 1/9/42

6. श्रीभाष्य - 2/3/18/

7. इमास्तु विशेषः वियदादेश्चेतनस्य यादृशो न्यथा भावो न तादृशो जीवस्य, ज्ञानसकोचविकासलक्षणोजीवस्यान्यथा भाव ।
 -श्रीभाष्य 2/3/18/

यद्यपि द्रव्य का अवस्थान्तर जीव रूप मे वल्लभाचार्य भी स्वीकार करते हैं किन्तु उसे "कार्य" का नाम नही देते । जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है और उसके वश मे है । श्रीमद्भगवद्गीता मे भी श्रीकृष्ण ने जीव को अपना सनातन अंश कहा है ।[8]

विद्वन्मण्डनम् के अनुसार जीव के स्वरूप का विवेचन -

विट्ठलेश्वर वल्लभाचार्य द्वारा संस्थापित सिद्धान्तो के अनन्य पोषक हैं । उन्होंने किसी नवीन सिद्धान्त की स्थापना नही की इसलिए उनके योगदान को नगण्य नहीं माना जा सकता । अपितु उन्होंने वल्लभ के सिद्धान्तो को तर्कसवलित किया है, जहाँ-जहाँ वल्लभ ने अपने सिद्धान्तो को पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं किया है, उस कार्य के विट्ठल ने पूर्ण किया है । "विद्वन्मण्डनम्" मे "जीव" सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत करते हुए उन्होंने आचार्य शंकर के प्रतिबिम्बवाद एव आभासवाद, अध्यारोपवाद का खण्डन प्रस्तुत किया है । इसके अतिरिक्त ब्रह्म एव जीव-सम्बन्ध अर्थात् अंशांशिभाव एवं जीव के अणु परिमाण का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में पूर्वपक्षी की विचारधारा का संक्षिप्त आकलन प्रस्तुत करते हुए विट्ठल द्वारा व्यक्त विचारों का अनुशीलन करने का प्रयास किया गया है।

---

8. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातन ।
   -श्रीमद्भगवद्गीता, 15/7

शांकराभिमत प्रतिबिम्बवाद का खण्डन-

शंकराचार्य के प्रतिबिम्बवाद का खण्डन करने के पूर्व उनकी विचार-धारा से अवगत होना आवश्यक है, अत जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानने से सम्बन्धित सिद्धान्त का संक्षिप्तांश इस प्रकार है -

जिस प्रकार व्यापक आकाश भी घट के सम्बन्ध से परिच्छिन्न पतीत होता है, उसी प्रकार अविद्या के सम्बन्ध से ब्रह्म अपने को परिच्छिन्न कर्त्ता भोक्ता तथा अज्ञ मानता है, यही जीव का स्वरूप है । जीव एव ब्रह्म का भेद अतात्त्विक एव अज्ञानकर्तृक है ।[9]

अविद्या से ही विचित्र प्रपञ्च की प्रतीति होती है, जिस प्रकार शुक्ति मे रजत की प्रतीति होती है उसी प्रकार माया के कारण ब्रह्म प्रपञ्च रूप से उद्भासित होता है । जिस प्रकार दर्पणस्थ मुख प्रतिबिम्ब एव मुख मे कोई भेद नही है उसी प्रकार ब्रह्म एव जीव मे कोई तात्त्विक अन्तर नही है । अध्यास के वशीभूत होकर जीव अपने को अज्ञ, भोक्ता एवं कर्त्ता मानने लगता है किन्तु श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है । अज्ञान की निवृत्ति होने पर इस कार्यरूप प्रपञ्च की भी निवृत्ति हो जाती है तथा जीव को स्वत सिद्ध मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है ।

शांकरमत मे शुद्धसत्त्वप्रधानामाया ब्रह्म की उपाधि है तथा मलिनसत्व प्रधाना अविद्या जीव की माया मे प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर है

---

9. एव च " जीव ब्रह्म भेद. अतात्त्विकः । अज्ञान कृतत्वात् । अज्ञानकृत । ज्ञाननिवर्त्यत्वात् । - सुवर्णसूत्रम्, - पुरूषोत्तम जी, पृ0 44

और वह सर्वज्ञ है क्योंकि माया शुद्धसत्त्वप्रधाना होने से उसके ज्ञान का आवरण नहीं करती और अविद्या मे जो चैतन्य का प्रतिबिम्ब है वह जीव है और वह अज्ञ है क्योंकि अविद्या मलिन सत्व प्रधान होने से ज्ञान का आवरण करती है । शंकर का मूल उद्देश्य ब्रह्म को अद्वैत तत्व के रूप में प्रमाणित करना था इसके लिए उन्होंने "उपाधियों" की कल्पना की ।

विट्ठलनाथ शंकर की इस विचारधारा से रञ्चमात्र भी सहमत नही है उनके अनुसार सर्वज्ञ ब्रह्म मे ज्ञान विरोधिनी अविद्या का लेश मात्र भी सम्बन्ध नही हो सकता यह अविद्या जीव मे है ब्रह्म मे नही है यह कह नही सकते क्योंकि शांकर मत मे जीव एवं ब्रह्म को अभिन्न माना जाता है । प्रतिबिम्बवाद का खण्डन करते हुए विट्ठल कहते हैं कि रूप, रूपवान् , रूपवान् मे रहने वाला संयोग विभाग आदि कुछ धर्म हैं जिनका प्रतिबिम्ब होता है किन्तु ब्रह्म तो नीरूप है। लोक में ऐसा देखा जाता है कि प्रतिबिम्ब दर्पणादि किसी स्वच्छ वस्तु मे ही पड़ता है अविद्या सदृश मलिन वस्तु मे प्रतिबिम्ब नही पड़ सकता । पूर्वपक्षी के कथन की सत्यता प्रमाणित करने हेतु श्रुति, स्मृति पुराणादि प्रमाण उपलब्ध नहीं है उनकी प्रतिबिम्बविषयक मान्यता केवल कल्पना पर आधारित है । कल्पना तो वही सत्य मानी जाती है जो लोकानुकूल[10] होती है किन्तु लोक मे कहीं भी वायु का प्रतिबम्ब काष्ठ मे नहीं देखा जाता अर्थात् जिस प्रकार रूपहीन वायु का प्रतिबिम्ब अपने से

---

10. दृष्टानुसारिकल्पनाया अभावे । नियम भगं शंकते ।
- हरितोषिणी, पृ0 49

सर्वथा विपरीत काष्ठ मे नही पड़ सकता [11] उसी प्रकार रूपहीन ब्रह्म का प्रतिबिम्ब अविद्या मे नहीं पड़ सकता ।

ब्रह्म अविद्या मे प्रतिविम्बित होता है इस कथन की पुष्टि हेतु अद्वैतवादी यह युक्ति दे सकते हैं कि सर्वव्यापक नीरूप आकाश जब दर्पण मे प्रतिविम्बित हो सकता है तो ब्रह्म क्यो नही ? अविद्या यद्यपि मलिन है किन्तु फिर भी एक ओर स्वच्छ है अर्थात् " मलिनसत्वप्रधाना " है । अपनी उक्ति के समर्थन मे उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार रजतपात्र अपने पृष्ठभाग में स्थित घट का आवरण करता है और सम्मुख स्थित सूर्य-चन्द्र आदि का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है, इसी प्रकार अविद्या भी आवरण एव प्रतिबिम्बग्रहण दोनो ही कार्य कर सकती है ।[12] लोक में यह परम्परा है कि ग्रहण के समय कज्जलमलिन दर्पण मे भी लोग सूर्य का प्रतिबिम्ब देखते हैं, इसलिए मलिन अविद्या में भी ब्रह्म प्रतिबिम्बित हो सकता है, ऐसा मानना लोकविरूद्ध नहीं है।

---

11. The illustration given about wind and wood is very suggestive. It subtly implies the impossibility of the formless wind having for its reflective surface wood which is not a proper medium for reflection.'

    - The Philosophy of Vallabhacarya
    - Marfatia M.

12. अतो यथा रजतपात्र स्वपृष्ठप्रदेशवर्तिनो घटस्यावरणं करोति अग्रभागभाजिनां रवीन्दुतारकाणां च प्रतिबिम्ब गृह्णाति इत्थमविद्यापि ज्ञानावरणं ब्रह्मप्रतिबिम्बग्रहणं चेति द्वयमपि कर्तुं क्षमते । "

    - विद्वन्मण्डन, [illegible]

पूर्वपक्षी के उपर्युक्त तर्क का खण्डन विट्ठलेश्वर नितान्त सरल शब्दो मे कर देते हैं कि आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं होता बल्कि आकाश मे सूर्य चन्द्र एव नक्षत्रो की जो प्रभा है उसी का प्रतिबिम्ब होता है अर्थात् वही प्रतिबिम्बित होता है जिसे मानव भ्रमवश आकाश का प्रतिबिम्ब मान बैठता है। आकाश तो रूपहीन है इसी प्रकार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब भी संभव नही है क्योंकि यह जगत्प्रसिद्ध है कि प्रतिबिम्ब सदैव रूपवान् का ही पड़ता है और ब्रह्म नीरूप है । ब्रह्म तो सर्वव्यापक है उसका प्रतिबिम्ब कैसे पड़ेगा ? जो सब कुछ स्वयं मे समाहित करके, सब कुछ आवृत्त कर स्थित है वह कहाँ प्रतिबिम्बित हो सकता है भला? अतः सर्वव्यापक ब्रह्म उसी प्रकार प्रतिबिम्बित नहीं होता जिस प्रकार दर्पण मे पड़ी रेखा दर्पण मे प्रतिबिम्बित नही होती ।[13]

श्रीमतीमृदुला मारफतिया ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि ब्रह्म और अविद्या दोनो ही सर्वव्यापक हैं अत ब्रह्म , जो कि शकर के अनुसार निर्गुण, निराकार है - का प्रतिबिम्ब अविद्या जैसी मलिन वस्तु में नही पड़

---

13. (क) यो यत्र वर्तते स तत्र न प्रतिबिम्बते । उपरिस्थित एव भ्रान्त्या प्रतीत आकाशः प्रतिबिम्बते । वस्तुस्तु प्रभामण्डल विद्यमान न प्रतिबिम्बते । सर्वथा दर्पण रेखावत् तत्र विद्यमान न प्रतिबिम्बते । - तत्वदीप निबन्ध पर प्रकाश 1/60

(ख) Moreover, a thing is not reflected where it actually is like the edge of the mirror.
The Philosophy of Vallabhacarya-
- Marfatia, Page 249

सकता ।[14] अर्थात् ब्रह्म और अविद्या दोनों व्यापक हैं । लोक मे कहीं भी व्यापक का प्रतिबिम्ब व्यापक मे नही देखा जाता ।

पूर्वपक्षी अद्वैतवादियों के विचार से आकाशगत, प्रकाश का प्रतिबिम्ब होता है तथा केवल आकाश भी प्रतिबिम्बित होता है क्योंकि प्रभा से पृथक् जल मे आकाश की प्रतीति सबको सर्वदा होती है ।

अत आकाश - दृष्टान्त के अनुसार नीरूप ब्रह्म का अविद्या मे प्रतिबिम्ब मानना उचित ही है ।

विट्ठलनाथ प्रतिबिम्बवाद के विपक्ष मे तर्क देते हुए कहते हैं कि यदि आकाश का प्रतिबिम्ब मान भी लिया जाये तो भी आकाश के दृष्टान्त से ब्रह्म का प्रतिबिम्बित होना प्रमाणित नही हो सकता क्योंकि प्रभा सहित ही आकाश प्रतिबिम्बित होता है । प्रभा रूप है और वह स्वरूप सम्बन्ध से आकाश मे रहती है, किन्तु ब्रह्म तो सर्वथा रूपहीन है।

सर्वव्याप्त ब्रह्म का सर्वव्यापक अविद्या मे प्रतिबिम्ब कैसे पड़ सकता है ? ब्रह्म एव अविद्या में सयोग सम्बन्ध भी नही माना जा सकता । वस्तुत: रूपवान् का ही प्रतिबिम्ब होता है[15] रूपवान् से तात्पर्य है "दृश्य"

---

14. '------Brahama and Avidya are all pervading. Firstly the highest reality, which according to Shankara Nirguna, Nirakriti, etc., cannot cast its reflections---

- Marfatia, Page 249.

15. अथवा दृग्विषयस्यैव प्रतिबिम्ब इति तात्पर्यम् ।"
- गंगाधरभट्टी

जो कि आँखो से दिखायी दे यद्यपि कि आकाश रूपवान् नहीं है तथापि वह स्वभावत दृश्य-वस्तु की श्रेणी मे आता है इसलिए उसका प्रतिबिम्ब हो सकता है किन्तु ब्रह्म न तो रूपवान् है और न दृश्य है, इसलिए उसका प्रतिबिम्ब कदापि सभव नही है ।

दर्पण में पड़ी रेखा सयोग सम्बन्ध से दर्पण मे रहती है तथापि उसका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है ।[16] आकाश का प्रतिबिम्ब तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञात होता है किन्तु ब्रह्म का प्रतिबिम्ब तो किसी भी प्रमाण से ज्ञात नही होता ।

पूर्वपक्षी अद्वैतवेदान्ती का कथन है कि जैसे आकाश का प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष प्रमाण से मालूम होता है उसी प्रकार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब इस आथर्वण ब्रह्मोपनिषद्" की श्रुति से ज्ञात होता है " एक ही ब्रह्म अविद्या-कल्पित अनेक वस्तुओ मे स्थित है उपाधि के सम्बन्ध से वह जल मे स्थित चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब के सदृश एक एव अनेक रूप में प्रतीत होता है ।[17]यह श्रुति जल मे प्रतिबिम्बित चन्द्र के दृष्टान्त से जीव को स्पष्टरूपेण प्रतिबिम्ब प्रमाणित करती है ।

इसी प्रकार "रूप "रूपं प्रतिरूपो बभूव"[18] श्रुति भी जीव को प्रतिबिम्ब कहती है । "बृहदारण्यक्-उपनिषद् के भाष्य मे शकर प्रतिबिम्ब

---

16. दर्पण रेखा तु संयोगसम्बन्धेन दर्पणेऽस्तीति न तस्या प्रतिबिम्ब इति भाव ।
    – हरितोषिणी – पृ० 51

17. "एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित· ।
    एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।"
    – आथर्वण ब्रह्मोपनिषद्

18. बृहदारण्यक् उपनिषद

विषयक कल्पना का सुझाव देते हैं । जिस प्रकार जल के अन्दर सूर्य और चन्द्रमा केवल प्रतिबिम्ब मात्र हैं यथार्थ नही है अथवा जिस प्रकार एक श्वेतवर्ण के स्फटिक मे लाल रंग केवल लाल फूल का प्रतिबिम्ब मात्र है यथार्थ नही क्योकि जल को हटा लेने से केवल सूर्य और चाँद रह जाते हैं प्रतिबिम्ब नहीं रहता और लाल फूल के हटा लेने से केवल श्वेत-वर्ण स्फटिक अपरिवर्तित रूप मे रह जाता है इसी प्रकार सब तत्व तथा जीवात्माये एक मात्र यथार्थ सत्ता के अविद्या के अन्दर पड़े प्रतिबिम्ब मात्र हैं यथार्थ कुछ नहीं । अविद्या के नाश होने पर प्रतिबिम्बो का अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है और केवल मात्र यथार्थ सत्ता रह जाती है । "[19]

श्रुति का आश्रय लेकर प्रतिबिम्बवाद का खण्डन -

शुद्धाद्वैतवादी शकर के उपर्युक्त सिद्धान्त से कदापि सहमत नहीं हैं उनके अनुसार " एक एवहि भूतात्मा भूते - भूते व्यवस्थित इस श्रुति के जलचन्द्र दृष्टान्त से जीव को प्रतिबिम्ब प्रमाणित करना केवल भ्रम है, क्योंकि इसमे " जलचन्द्र " शब्द का अर्थ प्रतिबिम्ब नही है, किन्तु मण्डलाकार से प्रतीत होते हुए जल-प्रविष्ट चन्द्रकिरण'अर्थ है और सम्पूर्ण श्रुति का यह आशय है कि जैसे चन्द्र अपने किरण रूप अश से जल में स्थित होकर किरण -मण्डल-रूप से एक ओर कम्पादि - युक्त होकर नाना प्रतीत होता है, इसी प्रकार ब्रह्म प्रतिशरीर जीवरूप से एक और इन्द्रियो के रूप

---

19. भारतीय दर्शन - भाग - दो - डा० राधाकृष्णन्
    पृ० 530

से अनेक प्रतीत होता है । " [20] वेद की किसी शाखा मे इस श्रुति के "बहुधा" पद के स्थान पर " दशधा" पद है, "दशधा" पद दशेन्द्रिय का सूचक है ।[21]

जीव को प्रतिबिम्ब सिद्ध करने के लिए "रूप रूप प्रतिरूपो बभूव" श्रुति का विवरण देना भी निरर्थक है क्योकि जिस स्थान [22] पर यह वर्णित है उसके पूर्व ही " योऽयमात्मेदममृतमिद ब्रह्मेद सर्वम् " इस श्रुति से और अन्त मे " तदेतद् ब्रह्म " अयमात्माब्रह्म" इन श्रुतियो से ब्रह्म को विश्वात्मक रूप मे प्रस्तुत किया गया है अत इनके बीच मे ही "रूप रूप प्रतिरूपो बभूव " श्रुति जीव को प्रतिबिम्ब प्रमाणित करने के लिए उद्यत नही हो सकती ।

वस्तुत. इसके पूर्व " पुरश्चक्रे द्विपद इस मन्त्र मे जो द्विपद और चतुश्पद शरीर निर्मित करके ब्रह्म ने उसमे प्रवेश किया यह वर्णित है। इस वर्णन से ब्रह्म की सर्वरूपता मे बाधा उत्पन्न हुई क्योकि यह लोकसिद्ध है कि जो जिसे बनाता है अथवा जिसमें प्रवेश करता है वह उससे भिन्न होता है और इसी बाधा की निवृत्ति के लिए यह "रूप रूपम्" श्रुति प्रवृत्त हुई । अत. प्रकरणानुकूल इसका अर्थ मात्र यही हो सकता है कि सबको बनाने वाले वाला सबका मूलरूप हो गया और इसी श्रुति की व्याख्या" अय वै हरयः"

---

20. सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष

21. यथा जले चन्द्र अंशुरूपेणाशिन स्थित एकधा चन्द्ररूपेण, बहुधानेकसंस्था- [illegible] विशिष्टरूपेण च दृश्यते, तथात्मा एकधा जीवरूपेण बहुधा इन्द्रियादिवैशिष्ट्येनेत्यर्थः । अतएव दशधेति पाठान्तरम् ।"

– गंगाधर भट्टी, पृ0 54

• बृहदारण्यके , तृतीय ब्राह्मण

श्रुति ने की । इसमे ब्रह्म की सर्वरूपता का वर्णन स्पष्ट ही है अत इसका जीव को प्रतिबिम्ब प्रमाणित करने मे उपयोग नहीं हो सकता ।

पूर्वपक्षी का कथन है कि यह श्रुतिसिद्ध हो चुका है कि अविद्या अघटितघटनापटीयसी है अत व्यापक होने पर भी अविद्या मे ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव रूप से पड़ सकता है ।

उक्त श्रुतियो मे प्रतिबिम्ब बोधक शब्दो के स्पष्ट न होने से अन्यथा अर्थ करना सम्भव है किन्तु कठोपनिषद की श्रुति -

"ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहा प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायाऽऽतपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये चत्रिणाचिकेता: ।

मे स्पष्ट रूपेण ही प्रतिबिम्बवाचक "छाया" शब्द का प्रयोग किया गया है अत. जीव को प्रतिबिम्ब मानना ठीक ही है।

इसके उत्तर मे सिद्धान्ती का कथन है कि "छाया" शब्द का जो अर्थ आप लगा रहे है वह हमे मान्य नहीं । बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब कभी एकत्र नहीं रहते चन्द्रबिम्ब आकाश मे रहता है तो उसका प्रतिबिम्ब जल में होता है ।

छाया और प्रतिबिम्ब दोनों एक नही है क्योकि छाया सदा प्रकाश-रहित स्थान मे रहती है परन्तु प्रतिबिम्ब प्रकाशशाली स्थान में होता है । आनन्दांश तिरोभाव से जो जीव मे विलक्षणता है उसको स्पष्ट करने के लिए श्रुति में "छाया" पद का प्रयोग किया गया है ।

"द्वासुपर्णा " श्रुति मे "तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्यनश्नन्न-न्योऽभिचाकशीति" मे कही गयी प्रतिबिम्ब की क्रिया और बिम्ब का तूष्णीभाव असगत है। प्रतिबिम्ब की क्रिया सदैव बिम्ब के अधीन और उसके अनुकूल ही होती है । इसके अतिरिक्त " द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" तथा " गुहा प्रविष्टौ परमे परार्द्धे " आदि श्रुतियों मे जीव और परमात्मा की जो एकत्र स्थिति कही गयी है, वह भी बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव मे सभव नही होगी ।[23]

<u>जीव को प्रतिबिम्ब मानने से मोक्ष प्राप्ति के साधन भी अविद्याकल्पित हो जायेगें-</u>

विट्ठलनाथ मायावादियों को अपने ही सिद्धान्तों के मध्य घसीटते हुए कहते हैं कि आपके विचार से ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जब अविद्या में पड़ता है तो उसे " जीव" कहते हैं । जब "जीव" को आत्मस्वरूप" का ज्ञान हो जाता है अर्थात् अविद्या का नाश ही आपके मत मे मोक्ष है । मोक्ष की दशा मे अविद्या का नाश होने पर जीव का भी नाश हो जायेगा, तो जीव का नित्यत्व आप कैसे सिद्ध करेंगे ?

मुक्ति मे यदि जीव का नाश ही होता हैतो उसके लिए कोई भी प्रवृत्त नहीं होगा क्योकि कोई भी स्वयं अपना नाश नहीं करना

---

23. क- डा० राजलक्ष्मी वर्मा § आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन §

ख- तत्वदीपनिबन्ध 1/60 पर प्रकाश , द्रष्टव्य

चाहता अत ऐसी दशा मे किसी की भी प्रवृत्ति मोक्षदायक दायक साधनो की ओर नही होगी ।[24]

विट्ठलनाथ कहते हैं कि मुमुक्षु स्वस्वरूप को जानकर , मोक्ष के साधनो की ओर प्रवृत होता है किन्तु जब उसे जीव-भाव एव मोक्षप्रदायक साधनो का मिथ्यात्व बोधित होगा तो वह सासारिक सुखों को त्यागकर अपनी मुक्ति के लिए मोक्ष-दायक साधनो की ओर कदापि प्रेरित नही होगा, वह चुपचाप बैठ जायेगा । इस प्रकार मायावादी के मत मे मोक्ष प्राप्ति के साधन भी अविद्या-कल्पित सिद्ध हो जाते हैं, मिथ्यात्व-प्रसक्ति के कारण मायावादी " प्रच्छन्न बौद्धो "[25] की श्रेणी में आ जाते हैं । अत कोई भी विद्वान् पुरूष, मुमुक्षु वैदिक साधनों की ओर प्रवृत्त न होगा क्योंकि जिस प्रकार स्वप्न मे देखे गये सुस्वादु भोजन से तृप्ति की आशा कोई नही रखता, उसको ग्रहण करने की प्रवृत्ति नहीं देखी जाती उसी प्रकार वेदोक्त साधनों

---

24. And since the annihilation of one's self is not an object of human pursuit, liberation would not be regarded as an object of pursuit, and soul would become unreal (since it can be destroyed). That being so, nobody would strive for the attainment of anything otherworldly or divine.'

- The Philosopny of Vallabhacarya
- Marfatia, Page 246

25. मायावादमसच्छास्त्र प्रच्छन्न बौद्धमुच्यते इति पद्मपुराण वाक्यात् "

- हरितोषिणी, पृ० 56

मे भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।[26]

जीव को प्रतिबिम्ब मानने पर जीवन्मुक्ति का विरोध -

जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानने मे सबसे बड़ी समस्या यह है कि इससे जीवन्मुक्ति का विरोध होता है । यदि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तो वह प्रतिबिम्ब या तो अविद्या मे पड़ेगा या फिर तदुपहित अन्त·करण मे । दोनो ही मलिन हैं उनमे प्रतिबिम्ब नही पड़ सकता, यदि क्षणमात्र को यह मान भी ले कि प्रतिबिम्ब पड़ता है तो अन्त·करण मे उपाधि के वर्तमान रहने से ससार ही फलित होगा यदि किसी तरह से उपाधि नष्ट भी हो गयी तो उपाधि के अभाव मे परममुक्ति ही प्राप्त होगी । दोनों ही दशाओ मे " जीवन्मुक्ति" असम्भव है ।[27]

---

26. स्वप्नं पश्यामि न सत्यमेव स्वप्न एव जानत पुरूषस्य प्रवृत्तिर्न तु दृष्टचरीत्यर्थः । एव वेदे कल्पितत्वं जानत पुरूषस्य तदुक्तकर्मणि प्रवृत्तिर्न भविष्यतीति भाव ।

- हरितोषिणी, पृ0 56

27. And there is no possibility of liberation while alive. For, you have to say that Jiva is a reflection either in (the mirror of) the Antahkarna or in ignorance. If the first, so far as the Anatahkarna is there, the person will continue to be bound by Samsara. If the Antahkarna is not there it means the highest type of liberation and not Jivanmukti.".

- The Philosophy of Vallabhacarya.

- by Mridula Marfatia

Page 251

प्रारब्ध रूप से जो अविद्या शेष रहती है उससे जीवन्मुक्त पुरूष के देहादि सम्बन्धी व्यवहार सम्पन्न होते रहते हैं - यह सिद्धान्त उचित नही है । ऐसा मानने पर अविद्या का ज्ञाननाशयत्व खण्डित होता है । यदि यह माने कि प्रारब्ध भोग से ही नष्ट होता है, तो निश्चय ही प्रारब्ध अविद्या कार्य नही है। एक बार रज्जुज्ञान होजाने पर फिर सर्पज्ञान और तज्जन्य भय आदि नही रहते, और जो कम्पन आदि होते रहते हैं, वे "वेग" नामक सस्कार के कारण होते हैं । प्रारब्ध मे तो सस्कार होते नही , अत प्रारब्ध से देहादि की स्थिति स्वीकार करना असगत है। यदि "दुर्जनस्तुष्यतुन्याय" से देह की स्थिति स्वीकार भी कर ली जाये तो प्रारब्ध के द्वारा केवल देह की वर्तमानता ही सम्भव हो सकेगी, भोजनादि कार्य सम्पादित नही होंगे जैसा कि सुषुप्ति मे देखा जाता है ।"[28]

इस प्रकार "विद्वन्मण्डनम्" मे विट्ठलनाथ ने यह स्पष्ट किया है कि शकराचार्य का पतिबिम्बवाद का सिद्धान्त श्रुति, स्मृति तथा पुराणो मे वर्णित "जीवन्मुक्ति" के सिद्धान्तो की अवहेलना करता है।

<u>आभासवाद का खण्डन -</u>

वल्लभाचार्य जी यह मानते हैं कि सत्, चित् एव आनन्द में से आनन्दांश के तिरोहित होने के कारण ही जीव को "आभास" कहा गया है।

---

28. डा0 राजलक्ष्मी वर्मा - आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन पृ0 19।

उनकी यह स्पष्ट विचारधारा है कि शंकर के "प्रतिबिम्बवाद" के सदृश सर्वथा मिथ्यात्व अभिप्रेत नहीं है । "अणुभाष्य" मे अपनी विचारधारा को स्पष्ट करते हुए वल्लभाचार्य कहते हैं कि जीव सच्चिदानन्द ब्रह्म का आभास है, सच्चिदानन्द नहीं, उसमे आनन्दांश छिपा हुआ रहता है।[29] एक एव हि भू तात्मा भूते - भूते व्यवस्थित । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" यहाँ एक का अनेकत्व ही दृष्टान्त का विषय है, मिथ्यात्वरूप आभास यहाँ विवक्षित नही है ।[30]

वल्लभाचार्य जी की इस युक्ति को विट्ठलनाथ ने विद्वन्मण्डनम्" मे और स्पष्ट किया है, उन्होंने मायावादी के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है कि जैसे दृष्टि के बीच अगुलि रखकर देखने से एक चन्द्र ही अनेक चन्द्रवत् आभासित होता है । वैसे ही जीव भी ब्रह्माभास है । मायावादी कहते है कि "नृसिंहोत्तरतापिनी श्रुति"- " माया स्वाऽव्यतिरिक्तानि परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावभासेन करोति" भी जीव के लिए स्पष्ट ही "आभास" पद का प्रयोग करती है।

विट्ठलनाथ जी कहते है कि मायावादी का यह सिद्धान्त उचित नही लगता अविद्या सम्बन्ध से अनेक रूपो मे आभास किसका होगा ? यह आभास ब्रह्म का नही हो सकता क्योकि ब्रह्म भ्रम का विषय नहीं है, जीव का भी नही हो सकता क्योकि जीव तो स्वयं ही आभास का विषय है । "विद्वन्मण्डनम्" के हिन्दी-निष्कर्ष में कहा गया है कि "माया स्वाऽव्यतिरिक्तानि

---

29. आभास एव च /2/3/50 पर भाष्य, अणुभाष्य
30. डा0 राजलक्ष्मी वर्मा - आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन

परिपूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति" अर्थात् माया अपने से अभिन्न सम्पूर्ण शरीरो को दिखाकर आभास से अथवा आभासस्वरूप जीव और ईश्वर को करती है ।

इस श्रुति को आधार बनाकर जीव को "आभास" मानना व्यर्थ है क्योकि इसके "दर्शयित्वा" पद से व्याकरणानुसार क्षेत्रप्रदर्शन के समय "जीव" और ईश्वर नही थे यह सिद्ध होता है और अद्वैतियो के अनुसार जीव और ईश्वर का क्षेत्र-प्रदर्शन के समय न रहना किसी प्रकार सम्भव नही है, क्योकि वे अनादि है।

वस्तुतः श्रुति का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म की माया शक्ति ब्रह्म से अभिन्न परिपूर्ण शरीरो को दिखाकर " मैंदेह हूँ " इस अध्यास के द्वारा कार्येश्वर ब्रह्म और कार्य जीव -मनुष्यादि जीवो को बनाती है । "हरितोषिणीकार के अनुसार अविद्या के सम्बन्ध से ब्रह्म अनेक रूपो मे आभासित होता है यह कथन उचित नही है क्योकि ब्रह्म एव भ्रमरूपा अविधा मे कदापि सम्बन्ध नही हो सकता ।[31]

वल्लभाचार्य जी ने "आभास एव च "[32] सूत्र का आशय प्रकट करते हुए कहा है कि आनन्द का तिरोभाव हो जाने से जीव ब्रह्म नहीं हैं

---

31. एवमविद्यासम्बन्धाद्ब्रह्मणोऽनेकवदवभासो वक्तव्य । स च न सम्भवति । ब्रह्मणिभ्रमरूपाया अविद्यायाः सम्बन्ध एव नास्ति .......।"
 – हरितोषणी, पृ0 67

32. आभास एव च 2/3/50/, अणुभाष्य

किन्तु चैतन्यादि गुणो से ब्रह्मसदृश है, इसलिए ब्रह्माभास है। यह आभास वैसा ही है जैसे कि एक अनाचारी ब्राह्मण मे ब्राह्मणाभास रहता है, यज्ञोपवीत धारण करते हुए भी उसमे ब्राह्मण नामक देवता का तिरोभाव रहता है ।

आचार्य जी के अनुसार जीव और जड़ दोनों की स्थिति यही है । मायावादी एक चन्द्र के अनेक जलाशयो मे पड़ने वाले प्रतिबिम्ब के दृष्टान्त केसदृश इस जगत् को भी प्रतिबिम्ब की तरह मिथ्या मानते हैं यह सत्य नही है क्योकि यदि यह जगत् मिथ्या है तो उसमे अध्यास नही हो सकता । मिथ्या मानने से "द्वासुपर्णा " आदि श्रुति का विरोध होता है ।

अत वल्लभाचार्य को मिथ्या रूप "आभास" मान्य नहीं हैं ।

यदि यह माने कि अविद्या एव ब्रह्म के सम्बन्ध से जीव जगदादि की सृष्टि होती है तो अविद्या और ब्रह्म का सम्बन्ध क्या होगा ? सयोग सम्बन्ध होनही सकता क्योकि दोनो ही विभु हैं ? अध्यास भी सभव नही है । स्वरूप सम्बन्ध भी नही हो सकता अन्यथा मुक्तजीव भी अविद्या ग्रस्त ही रहेंगे , साथ ही दोनो के मध्य जो भी सम्बन्ध होगा वह अनादि होगा । इस प्रकार ब्रह्म और अविद्या के सम्बन्ध के अनादि होने से जीव और ब्रह्म-विभाग भी अनादि होगा और तब दोनों के समान

- कालिक होने से उनमें कारण कार्य भाव ही उपपन्न नही होगा । [33]

अद्वैतवादी ब्रह्म और अविद्या के सम्बन्ध को अनादि मानते हैं उनके अनुसार "बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादि" इस श्रुतिवाक्य से यह सिद्ध होता है कि अविद्या सम्बन्ध जिसे कि बन्धन (बन्ध) कहते हैं यह अनादि है तथा अविद्या का किया हुआ है । अतः यह सिद्ध है कि यह सम्बन्ध अनादि है इसलिए जीव को भी अनादि मानना चाहिए ।

इसका प्रत्युत्तर देते हुए विट्ठल स्पष्ट करते हैं कि "अनादि" का यहाँ पर पूर्णतया नकारात्मक अर्थ नही है । जिस प्रकार इन्द्रादि देवगण भी कल्पान्त मे मृत्यु को प्राप्त होते हैं किन्तु वे मरणशील मानव की अपेक्षा अधिक जीवित रहते हैं इसलिए उन्हे "अमर" कहा जाता है देवगण का मरण सम्भाव्य होने पर भी उन्हे "अमर" कहने से "अमरत्व" का व्याघात नही होता है[34]

---

33. डा० राजलक्ष्मी वर्मा – आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन

34. **'but that the statement 'the bondage of it (Jiva) is beginningless because of Avidya' refers to the bondage is beginningless, which should be so considered well, it is not so, because this negation of having a beginning does not mean a complete negation, but it is a general negation of having a beginning in comparison to the beginning of a pot, etc. Just as the God are said to be immortal, this negation of mortality is relative and means that they are comparatively immortal.'**

**- Mridula Martatia, Page 254**

उसी प्रकार से इस अविद्या कृत बन्ध का भी सृष्टि के आरम्भ मे जन्म होता है, अत यह अनादि नही है तथापि यह अति प्राचीन है इसीलिए "बन्धोऽस्य [illegible]ऽनादि," इत्यादि श्रुति अनादि कहती है । वस्तुत यह अनादि होता तो श्रुति इसे अविद्याकृत नही कहती क्योकि कारण से उत्पत्ति की अपेक्षा न होने से"अनादि" अविद्याकृत नही हो सकता ।

थोड़ी देर के लिए यदि अविद्या और उसका सम्बन्ध दोनों अनादि है तथा जीव भी अनादि है तो यह निर्धारित करना कठिन है कि क्या अविद्या ने "जीव" की सृष्टि की अथवा " जीव" ने अविद्या की सृष्टि की है ?

पूर्वपक्षी का कथन है कि अनादि जीव का बन्धन भी अनादि ही होना चाहिए यदि अनादि नही है तो किंचित्काल तक जीव बन्धन रहित था इसका हेतु क्या है ? बन्धन रहित दशा मे जीव का स्वरूप क्या था ? उस समय जीव ब्रह्मरूप था अर्थात् मुक्त था तो मुक्त पुन. बद्ध नही हो सकता यदि बद्ध था तो बन्धन अनादि सिद्ध हो जायेगा । इसके अतिरिक्त उसे एक साथ बद्ध एव मुक्त मानना भी असगत है अत. इसके अलावा कोई तीसरी अवस्था स्वीकार नहीं की जा सकती है ।

शुद्धाद्वैतवादी अविद्या को ब्रह्म की एक प्रमुख शक्ति मानते हैं । जीव के बन्धन हीन होने में ब्रह्म की इच्छा ही हेतु है क्योकि जो बन्धनग्रस्त

करती है वह अविद्या ईश्वर की शक्ति है । शक्ति सदैव शक्तिमान् की इच्छा के अनुसार ही कार्य करती है। ब्रह्म की बारह प्रमुख शक्तियाँ मानी गयी हैं - श्री, पुष्टि, गिरा, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, उर्जा, विद्या अविद्या, शक्ति और माया । [35] जिस प्रकार राजा अपनी इच्छा के कार्य सेवक से करवाता है उसी प्रकार भगवान् भी अपनी इच्छा के कार्य इन बारह शक्तियो से कराता है ।[36]

इसलिए यह मानना पड़ेगा कि "जीवो का बन्धन अथवा उनका अस्तित्व अनादि नही है उनका बन्धन अविद्या से उत्पन्न किया जाता है जो ईश्वर की एक शक्ति है और वह केवल उन्ही जीवों के प्रति क्रियान्वित होती है जिन्हे ईश्वर बद्ध करना चाहता है ।"[37] इसी तरह शुक, सनकादि आदि महान् आत्माये सदा मुक्त हैं क्योकि भगवान् की इच्छा उन्हे बद्धावस्था मे रखने की नही है । इसी तरह विद्या भी भगवान् की शक्ति है यह भी ईश्वर की इच्छानुसार ही मोक्ष प्रदान करती है ।

---

35. श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्टयेलयोर्जया।
विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवित"मिति ।। - भागवत-पुराण

36. यथा राजा सेवकेन सर्वं कार्यमिच्छया करोति, तथा भगवान् द्वादशशक्तिभिरिच्छया सर्वं करोति ।"
- हरितोषिणी, पृ0 70

37. भारतीय दर्शन का इतिहास भाग- 4 -डा0 एस0 एन0 दासगुप्ता
पृ0 368-370

अत हम यह कह सकते हैं कि बन्धन के समान मोक्ष भी ऐच्छिक है, स्वाभाविक नहीं है और जीव स्वरूप के विभाग के पूर्व वह ब्रह्मस्वरूप मे विद्यमान रहता है अत बन्धन को अनादि मानना अनौचित्यपूर्ण है।

विट्ठलनाथ का यह सिद्धान्त श्रुतिसम्मत है । कतिपय उपनिषद् यह उद्घोषित करते हैं कि जीव का बन्ध एव मोक्ष ईश्वर की इच्छा पर आधारित है ।[38]

अपने सिद्धान्त का दृढ़ीकरण करते हुए आचार्य जी कहते है कि यदि ब्रह्म और अविद्या के मध्य अनादि सम्बन्ध है तो यह सम्बन्ध ब्रह्म में सार्वदेशिक है अथवा एकदेशिक ? यदि एकदेशिक सम्बन्ध माने तो यह असम्भव है क्योंकि व्यापक अविद्या का निरवयव ब्रह्म के एकाश में सम्बन्ध नही हो सकता इससे अविद्या की विभुत्व हानि होगी और सार्वदेशिक सम्बन्ध स्वीकार करने पर ब्रह्म भी जीव तुल्य हो जायेगा [39] ब्रह्म एवं जीव का विभाजन व्यर्थ सिद्ध जायेगा । अविद्या एव ब्रह्म मे अनादि सम्बन्ध मानना असगत है। ऐसी अवस्था मे जीव भी आभास प्रमाणित नही हो सकता ।

---

38. एष ह्येव साधुकर्म कारयति त यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति ।
एष उ एवासाधु कर्म कारयति, तं यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो निनीषति।"

39. अविद्याया. सर्वगतत्वागीकारात्तस्या अनादि सम्बन्धो यदि सार्वदेशिकः तदा कृत्स्नस्य ब्रह्मणो जीवत्[illegible]।" अथ प्रादेशिकस्तदा अविद्याया विभुत्व हानिः । तन्मतीयविभूनां निरवयवत्वस्यैवोपगमात् ।"

— [illegible], पृ0 71

"तत्वमसि" वाक्य पर विचार -

जीव का आभास प्रमाणित करने के लिए अद्वैतवादी छादोग्य उपनिषद् मे वर्णित "तत्वमसि" महावाक्य का आश्रय लेते हुए कहते हैं कि इस महावाक्य के अनुसार जीव और ब्रह्म एक हैं । जीव- ब्रह्मैक्य तभी सम्भव है जब कि अविद्या के सम्बन्ध से अनेक रूपो मे आभासित होने वाले ब्रह्म को जीव स्वीकार करें । विट्ठलनाथ यह मानते हैं कि "तत्वमसि" का अर्थ शकर की भाँति मात्र " जीव एव ब्रह्मैक्य" ही नही है और "तत्वमसि" पद को ही केवल महावाक्य नहीं माना जा सकता, अपितु इस पद से युक्त सम्पूर्ण वाक्य ही महावाक्य है ।[40]

सम्पूर्ण प्रपाठक का तात्पयार्थ जीव को ब्रह्म प्रदर्शित करना नही है अपितु ब्रह्म के सर्वरूपत्व का प्रदर्शित करना है । प्रकरण के प्रारम्भ मे ही श्वेतकेतु से उसके पिता ने कहा -

> "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन ज्ञातेन सर्वं मृन्मय विज्ञातं ।
> स्याद्वाचारम्भण विकारो नामधेय मृतिकेत्येव सत्यम् ।।"[41]

उपर्युक्त श्रुति मे एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा की गयी है और दृष्टान्त दिया गया है कि जैसे एक मृत्तिकापिण्ड के ज्ञान से समस्त मृत्तिकापिण्डो की जानकारी हो जाती है उसी प्रकार एक ब्रह्म को जान

---

40. क- [illegible] । पृष्ठ 73
    ख- ऐतदात्म्यमिद सर्वं तत्सत्य स आत्मा तत्वमसि ।
    - §छान्दोग्य उपनिषद्§

41. छादोग्योपनिषद् 6/1/4/

लेने से समस्त जगत् अर्थात् विकारो का ज्ञान हो जाता है। श्रुति में जो एक विज्ञान से [illegible] की प्रतिज्ञा की गयी है यह तभी उपपन्न हो सकती है जब सब कुछ एकात्मक हो, जिस प्रकार सुवर्णकार्य कुण्डलादि केवल सुवर्ण ही है और सुवर्ण खण्ड का ज्ञान हो जाने पर उन सब का ज्ञान हो जाता है इसीलिए "सदेव सौम्य" से निरूपण आरम्भ करके "ऐतदात्म्यमिद सर्वम् " से समस्त जड़ जगत् का तदात्मकत्व अर्थात् ब्रह्मात्मकत्व प्रतिपादित किया गया है। पूर्वोत्तर जड़ और जीव का तदात्मकत्व ज्ञापित करने के लिए ही बीच मे हेतु दिया गया है - " स आत्मा।" ईश्वर समस्त विश्व का स्वरूपभूत है जैसे सुवर्ण कुण्डलादि का, सब कुछ तदात्मक है अतः सत्य है। इस प्रकार जड का ब्रह्मात्मकत्व कहकर "तत्वमसि" से जीव का भी ब्रह्मात्मकत्व कहा गया है।[42]

"जिस प्रकार " ऐतदात्म्यम्" एतदात्मा का भाव है, वैसे ही "तत्वम्" तत् का भाव है। "तत्वमसि" का पदच्छेद " तत्वम् असि" इस प्रकार है। "असि" यह मध्यम पुरूष एक वचन का स्वरूप है इससे ही त्वम् पद काबोध हो जाने से "तत्वम्" एक पूरा पद है, जिसका तात्पर्य है जीव की ब्रह्मात्मकता।" इस "तत्वमसि" पद से जीव की तदात्मकता अश रूप से उसी प्रकार कही गयी है, जिस प्रकार जड की कार्यरूप से। जीव मे अ[illegible] जो ब्रह्मविरूद्ध धर्म हैं वे तो ब्रह्म की इच्छा से ही हैं, अत

---

42. तत्वदीप निबन्ध 1/63 पर प्रकाश

विरूद्धांश परित्याग और भागत्यागलक्षणा के लिए कोई अवकाश नही है ।[43]

अत शुद्धाद्वैत – सम्प्रदाय में तत्वमसि ... का अर्थ हुआ – तत् अर्थात् ब्रह्म , त्वम् अर्थात् जीव दोनो शुद्ध एव अभिन्न हैं । ब्रह्म ही जीव हो गया है । इस प्रकार "तत्वमसि " मे जो अद्वैत या अभेद का प्रतिपादन है उसका ज्ञान अभिधाशक्ति से ही होता है । रामानुज , निम्बार्क तथा शकर ने इनमे जो अद्वैत कहा है उसका ज्ञान लक्षणा से होता है क्योकि उनके मतानुसार यह अभिधामूलक अर्थ बाधित होता है – जीव प्रत्यक्षत ब्रह्म नहीं है किन्तु वल्लभ कहते हैं कि यहाँ अभिधामूलक अर्थ बाधित नही होता है। जीव ही प्रत्यक्षत ब्रह्म है। अत· लक्षणा का अवकाश ही नही है ।[44]

इस प्रकार "तत्वमसि " महावाक्य के द्वारा शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय में जीव की ब्रह्मात्मकता सिद्ध की गयी है । किन्तु यहाँ यह ध्यातव्य है कि जीव ब्रह्मात्मक है किन्तु स्वय ब्रह्म नही है । इस सम्प्रदाय मे ब्रह्म एवं जीव के मध्य तादात्म्यभाव नहीं स्वीकार किया जाता, इन दोनो के बीच प्रत्येक स्तर पर भेद अवश्य बना रहता है। यथा जीव आराधक है तो ब्रह्म आराध्य, जीव शासित है तो ब्रह्म शासक इन सम्बन्धो के लिए जिस दूरी की आवश्यकताहोती है वह शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे सर्वदा ही विद्यमान है।

---

43. डॉ0 राजलक्ष्मी वर्मा– आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन ।

44 भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – डा0 संगम लाल पाण्डेय पृ0 388

जीव नित्य है -

अणुभाष्य मे वल्लभाचार्य ने कहा है कि वेदान्त में दो प्रकार की सृष्टि का वर्णन पाया जाता है एक तो सारा भूत भौतिक जगत् ब्रह्म से ही अग्नि की चिनगारियो की तरह निकलता है, द्वितीयत आकाशादि के क्रम से सृष्टि हुई । यह सृष्टि नाम रूप से रहित थी, नाम रूप मे अभिव्यक्त हो गयी । जड़ एव जीव कार्य रूप है किन्तु परमात्मा का अंश होने से जीव का 'नाम रूप' से कोई सम्बन्ध नही है ।[45] नामरूप विशेषो से युक्त वस्तु की ही उत्पत्ति होती है, जीव का नामरूप से कोई सम्बन्ध नही है । तैत्तिरीयोपनिषद् में आकाश से लेकर अन्नमय कोश पर्यन्त समस्त वस्तुओ की उत्पत्ति कही गयी है अन्नमय प्राणमयकोश की उत्पत्ति होती है यह स्वत सिद्ध है, आनन्दमय तो स्वय परब्रह्म है अत. उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नही है इसके बाद मनोमय और विज्ञानमय कोश ही शेष रहते है अत इनकी उत्पत्ति भी सभव नहीं है क्योकि तैत्तिरीय।पनिष मे विज्ञानमय कोश को जीव माना गया है । [46] छादोग्योपनिषद् मे जीव को "आत्मा" पद से सम्बोधित किया गया है अत जीव की उत्पत्ति नही होती । जीव नित्य है, अत नित्य किन्तु परिच्छिन्न जीव के लिए जो उत्पत्ति पद का प्रयोग किया गया है उसका अर्थ "आविर्भाव "ही समझना चाहिए ।

---

45. अणुभाष्य 2/3/1/

46. अणुभाष्य 2/3/15

जीव का देहेन्द्रिय के अध्यास से कोई सम्बन्ध नहीं है अत जीव भी शरीर के साथ उत्पन्न होता है ऐसा स्वीकार करना अनुचित है वेदान्तसूत्र 2/3/17 के भाष्य मे वल्लभाचार्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जीवात्मा उत्पन्न नही होता आत्मा की उत्पत्ति का श्रुति मे स्पष्ट निषेध है। " देवदत्त का जन्म हुआ , विष्णुमित्र का जन्म हुआ " इत्यादि से देहोत्पत्ति ही कही जाती है देहोत्पत्ति से पृथक् जीव की उत्पत्ति कही नही सुनी गयी ।[47]

शरीर का जन्ममरण होता है जीव उसके आश्रित रहता है, जीव शरीराभिमानी है अत शरीर धर्मों का जीव मे लाक्षणिक कथन किया जाता है ।

जीव नित्य है" इस सिद्धान्तकेलिए समस्त वैष्णव वेदान्ती तथा शंकराचार्य भी एकमत हैं । जीव की नित्यता से एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा मे कोईबाधा नही पड़ती । रामानुज तथा वल्लभ के सिद्धान्त एक ही हैं किन्तु रामानुज मानते हैं कि जीव ब्रह्म का कार्य है, जीव को शब्दत कार्य घोषित करना ही रामानुज की वल्लभाचा र्य के सिद्धान्त से भिन्नता है। जीव ब्रह्म की परिवर्तित अवस्था है किन्तु वल्लभ उसे कार्य कहकर सम्बोधित नहीं करते ।

वल्लभाचार्य की दृष्टि मे जीवभाव वास्तविक है जबकि शंकराचार्य के मत मे जीवभाव औपाधिक तथा मिथ्या है । वेदान्त सूत्र 2/3/18 का भाष्य करते हुए वल्लभ कहते हैं कि जीव ब्रह्म विभाग न तो अनादि है और न ही बुद्धिकृत दोनो मे ही कोई प्रमाण नहीं है । जीवभाव

---

47. देवदत्तो जातो विष्णुमित्रो जात इति देहोत्पत्तिरेव न तु तद्व्यतिरेकेण पृथग् जीवोत्पत्तिः श्रूयते ।- अणुभाष्य 2/3/17

को अनादि या बुद्धिकृत मानने पर "सदेव सौम्येदमग्र . . .. श्रुति का विरोध होगा ।

जीव भाव को वास्तविक सिद्ध करने के उपरान्त अब हम ब्रह्म एव जीव-सम्बन्ध विषयक वल्लभ एव विट्ठल की विचारधाराओ का विवरण उनके पूर्वपक्षी अद्वैतवादियो के विचारो के खण्डन-मण्डन के साथ प्रस्तुत करेंगे ।

अंशांशि भाव सिद्धान्त -

मुण्डकोपनिषद मे व्युच्चरण श्रुति के माध्यम से जीवभाव का सादित्व स्वीकार किया गया है। इस श्रुति मे कहा गया है जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से सहस्रों अग्नि स्फुलिंग उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार इस अक्षर से द्विविध सृष्टि उत्पन्न होती है और उसी में विलीन होती है ।[48]

यह व्युच्चरण श्रुति ही वल्लभ के सिद्धान्तो की आधारशिला है । वह इसी को आधार बनाकर ब्रह्म एवं जीव के मध्य अंशांशिभाव" मानते हैं ।

गोस्वामी विट्ठलनाथ" अंशांशिभाव के इस सिद्धान्त के अनन्य-

---

48. तदेतत्सत्य यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपा॰ ।
तथा क्षराद्विविधाः सोम्य भावा.
प्रजायन्ते तत्र चैवपि यान्ति।।
- मुण्डकोपनिषद 2/4/1/

पोषक थे उन्होंने अपने ग्रन्थ मे इस सिद्धान्त की पुष्टि अनेक तर्कों के माध्यम से की है । विट्ठल ने मायावादियो के सिद्धान्तो का सर्वतोमुखी खण्डन प्रस्तुत किया है । इस सन्द र्भ मे सर्वप्रथम मायावादियो द्वारा "अशाशिभाव " सिद्धान्त के विरूद्ध दिये गये तर्कों का सक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हुए तत्पश्चात् विट्ठल द्वारा दिये गये समाधान को प्रस्तुत करेंगे ।

यह पूर्वविदित तथ्य है कि शकर ब्रह्म एव जीव के मध्य औपाधिक भाव मानते हैं वेदान्त सूत्र" अशोनानाव्यपदेशात् 2/3/43 की व्याख्या करते हुए शंकर कहते हैं कि ब्रह्म निष्कल तथा निरवयव है, ब्रह्म का अश होना असम्भव है, वे "अश" को "अश इव" के अर्थ मे ग्रहण करते हैं ।[49]

"तत्वमसि" तथा "अयमात्माब्रह्म" आदि श्रुतियाँ जीव एवं ब्रह्म मे अभिन्नता प्रतिपादित करती हैं । जीव भाव औपाधिक है, अविद्या की उपाधि से ग्रस्त ब्रह्म ही जीवभाव को प्राप्त करता है और परमज्ञान को द्वारा अविद्या का मिथ्या आवरण हटते ही ब्रह्मैक्यानुभूति होने लगती है। लोक मे सर्व त्र विकारी और सावयव पदार्थों का ही अभेद देखा जाता है ब्रह्म एव जीव जैसे निरवय , नित्य पदार्थों का नहीं यथा घट का अपने अवयवी मृत्तिका मे अभेद देखा जाता है । इस प्रकार अवयव

---

49. भागवत-सम्प्रदाय -बलदेव उपाध्याय, पृ0 382

स्वसजातीय अन्त्यावयवी मे अभिन्न हो जाता है।[50]

मायावादियो का विचार है कि जीव एव ब्रह्म के बीच क्रमश सयोग, समवाय एव स्वरूप किसीभी प्रकार का सम्बन्ध सभव नही है ।[51]

इसके अतिरिक्त जीव को अणु भी नही माना जा सकता क्योकि अणु जीव एव सर्वव्यापक ब्रह्म के बीच जो सम्बन्ध होगा वह नित्य होगा, अणुजीव का प्रत्यक्ष भी नहीं होगा । यद्यपि " ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति" श्रुति ब्रह्मज्ञान से जीव का ब्रह्म होना बताती है किन्तु यह भी जीव को अणु मानने पर असभव है क्योकि ज्ञान से भी दो पदार्थ एक नही बन सकते, जिस प्रकार देवदत्त एव विष्णुमित्र मे अभेद स्थापित नही हो सकता उसी तरह ब्रह्म एव जीव जैसे दो पदार्थ एक नही हो सकते । अत यही उचित है कि जीव एव ब्रह्म भिन्न-भिन्न पदार्थ नही है अपितु उपाधि के कारण ही इनमे भिन्नताप्रतीत होती है । जब कि ब्रह्म का निरूपण करने वाली श्रुतियाँ उसे " यतोवाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' अर्थात् जो वाणी तथा मन से भी अगम्य है घोषित करती हैं उनका विरोध होगा ।

इसके अतिरिक्त जीव एव ब्रह्म के बीच अभेद मानते हुए भी "तादात्म्य" स्वीकार नहीं करते । कनक – कुण्डल के सदृश धर्म धर्मिभाव भी इस सन्दर्भ मे असगत है । पारमार्थिक भेद के समान पारमार्थिक अभेद

---

50. विद्वन्मण्डनम् , पृष्ठ 136 द्रष्टव्य
51. विद्वन्मण्डनम्, पृ0 137 द्रष्टव्य

भी असम्भावित है । इस प्रकार एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा जो शास्त्रो के द्वारा की गयी है वह भी अनुपपन्न हो जायेगी । इसके अतिरिक्त जीव को ब्रह्म का परिवर्तित रूप नहीं मान सकते क्योकि दोनो ही अपरिवर्तनीय कहे गये हैं । जीव को ब्रह्म का विकार भी नही कह सकते क्योकि श्रुति ब्रह्म को अविकारी घोषित करती है तथा जीव भी " न जायते म्रियते वा इत्यादि वाक्य के द्वारा अविकार्य कहा गया है । जीव ब्रह्म का अंश भी नही माना जा सकता क्योकि ब्रह्म निरवयव है अद्वैतवादी जीव को अंश न मानकर " अंश इव" मानते हैं । इस तरह के अंशत्व की कल्पना केवलाद्वैतियो को भेद तथा अभेद परक श्रुतियो के मध्य सामंजस्य स्थापित करने के लिए ही करनी पड़ी ।

जिस प्रकार जीव और ब्रह्म में चैतन्य अविशिष्ट है उसी प्रकार स्फुलिंग तथा अग्नि के मध्य "उष्णता" अविशिष्ट है । जीव और ब्रह्म के बीच भेद तथा अभेद की उपपत्ति जीव का अंशत्व स्वीकार करने पर ही हो सकती है ।[52]

अत व्यास प्रणीत सूत्र " अंशोनाना व्यपदेशात्"औपचारिक अंशत्व का कथन मात्र है इस प्रकार सभी प्रकार से शुद्धाद्वैत सिद्धान्त द्वारा स्थापित विचारधारा का निराकरण करके अद्वैतवादी अपने मत की स्थापना करते हुए कहते हैं कि अविद्योपाधि युक्त ब्रह्म ही जीव है ऐसा अभेद बोधक श्रुतियो से ही

---

52. चैतन्य चाविशिष्टं जीवेश्वरयो॰ यथाग्निविस्फुलिंग योरौष्ण्यम् अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगम॰ ।

- शांकर भाष्य 2/3/43

प्रमाणित हो जाता है । "उपाधि" अथवा अज्ञान वास्तविक नही है क्योकि यदि इसे सत् मानेंगे तो उसका निराकरण ज्ञान द्वारा नही हो सकता ।[53]

ब्रह्म निरवयव है अत जगत् को भी ब्रह्म स्वरूप नही मान सकते क्योकि एक निरवयव एव अविकारी तत्व सर्वथा सावयव एव विकारी जगत् के स्वरूप का कदापि नही हो सकता । इसके अतिरिक्त श्रुति भी कहती है कि

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति ।
यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन क पश्येत् ।। "

अर्थात् जहाँ द्वैत रहता है वहाँ अन्य अन्य दर्शन तथा श्रवणादि होते हैं किन्तु जहाँ सब कुछ आत्मभूत है अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नही वहाँ कौन किसको देखें और सुने ।

इस श्रुति से यह प्रमाणित होता है कि अविद्या की दशा मे ही जगत्प्रतीति होती है अज्ञान-नाश के अनन्तर अर्थात् मुक्ति की अवस्था मे जगत्प्रतीति नही होती यदि जगत् ब्रह्मस्वरूप होता तो मुक्त्यावस्था मे श्रुति उसके अभाव को प्रकट नहीं करती । अत यह सिद्ध होता है कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है और समस्त प्रपञ्च मिथ्या है ।

केवलाद्वैती अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यद्यपि कि " यतो वा इमानि भूतनि[54] . इत्यादि श्रुति ब्रह्म के कर्तृत्व को सूचित

---

53 'for, if it (Upadhi) were real, it cannot be destroyed by knowledge,'.

- The Philosophy of Vallabhacarya
- Marfatia, Page 263

54. तैत्तिरीयोपनिषद्

करती है तथा " निष्कल निष्क्रिय शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् " श्रुति ब्रह्म के अकर्तृत्व तथा निरवयवत्व को प्रकट करती हैं तथापि इनसे अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना मे कदापि कोई व्यवधान नहीं पड़ता क्योकि इन दोनो के मध्य सामञ्जस्य स्थापित करने हेतु ही अविद्योपाधि को स्वीकार किया जाता है अर्थात् अविद्या की उपाधि से ग्रस्त ब्रह्म ही इस प्रपञ्च का हेतु है।

जीव से सम्बन्धित समस्त विरोधो का तार्किक उत्तर देते हुए विट्ठल कहते हैं कि जीव न तो अवास्तविक है और न अज्ञान का कार्य । जीव को वास्तविक मानने पर अभेद बोधक श्रुतियो का विरोध उपस्थित नही होगा । जीव के इस रूप की सिद्धि के लिए विट्ठल कहते हैं "अंशांशिभाव मानने से श्रेष्ठ और कोई सिद्धान्त नहीं है । इसे मानने से ब्रह्म के निरवयत्व का उल्लघन नहीं होता क्योकि वल्लभाचार्य जी के विचार से ब्रह्म का अंशत्व अथवा निरंशत्व लोकसिद्ध नही है, उसका ज्ञान तो एकमात्र वेदों से ही होता है। वह श्रुति जैसा कहती है वैसा ही मानना चाहिए, उसके सिद्धान्त मे कही उल्लंघन न करते हुए तत्सम्मत युक्ति प्रस्तुत करनी चाहिए । [55]

इस सन्दर्भ मे विट्ठलनाथ ने तर्क पूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है कि ब्रह्मस्वरूप श्रुतिगम्य है लौकिक प्रमाण गम्य नहीं है यथा रूपहीन होने के कारण ब्रह्म का चाक्षुष प्रत्यक्ष नही हो सकता, वह स्पर्शरहित तथा गन्धरहित है अत

---

55. अणुभाष्य 2/3/43

पञ्चज्ञानेन्द्रियो की परिधि से बाहर है । ब्रह्म अनुमानगम्य भी नही है, न शब्द प्रमाण एव उपमान प्रमाण अनुगम्य है । वह तो " तन्त्वौपनिषद पुरूष पृच्छामि "[56] श्रुति तथा " सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' स्मृति से गम्य है । इन शास्त्रवचनो से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म - स्वरूप का ज्ञान वैदिकगम्य है लौकिकरीति से ब्रह्मज्ञान असभव है । उपनिषदों मे जैसे ब्रह्म को निरवयव कहा गया है वैसे ही जीव ब्रह्म का अश तथा जगत् ब्रह्म स्वरूप है यह भी कहा गया है ।

वेदव्यास ने " जीव-ब्रह्म सम्बन्ध विचार" से सम्बन्धित अपने सूत्रो मे जीव को ब्रह्म का अश घोषित किया है । " अशोनानाव्यदेशाद् " का भाष्य करते हुए आचार्य जी कहते हैं कि -

"विस्फुलिगा [57] इवाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्गता ।
सर्वत पाणिपादान्तात् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखात् ।"

अर्थात् समस्त जड एव जीव प्रपञ्च परमात्मा से ही अग्नि की चिनगारियो की तरह छिटक कर अलग हुए हैं । यथा लोकविरूद्ध "सर्वत·पाणि-पादान्त" को श्रुति के आग्रह से स्वीकार किया जा सकता है उसी प्रकार ब्रह्म निरवयव होते हुए भी उसका अशत्व स्वीकार्य है । निरिन्द्रय होते हुए भी परमात्मा का सृष्ट हो जाना उसकी अलौकिकता का सूचक है क्योकि

---

56. वृहदारण्यक् उपनिषद
57. यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिगा व्युच्चरन्ति
(वृह. 2/1/20)

वह " विरूद्धधर्माश्रमी " है । वल्लभाचार्य " ब्रह्म " से सम्बन्धित समस्त विरोधाभासो का समायोजन ब्रह्म को विरूद्धर्माश्रयी घोषित करके कर देते हैं ।

जीव ब्रह्म का अश है, यह श्रुतियो तथा स्मृतियो के माध्यम से विविध प्रकार से सिद्ध किया गया है यथा- कही जीव की ब्रह्मात्मकता " अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभः " कही उसकी उत्पत्ति " सर्व एवात्मनो व्युच्चरन्ति " श्रुति के द्वारा तथा जीव की अज्ञता , चिद्रूपता, ईशितव्य तथा अणुत्व भी नाना श्रुतियो के माध्यम से व्यक्त की गयी है ।[58] इन विभिन्न प्रकार के धर्मों का आश्रय ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं बन सकता, ब्रह्माश होने से जीव भी अपने अशी के गुणो से युक्त होता है । जीव से सम्बन्धित परस्पर विरूद्ध उक्तियो की अन्विति तभी हो सकती है जब कि जीव को ब्रह्माश माने । जैसे अग्नि से छोटे-छोटे अग्नि कण प्रकट होते हैं, इसी प्रकार इस ब्रह्म से सब प्राण, सबलोक, सब अन्त करण और सच्चरित असच्चरित सभी प्रकार के जीव प्रकट होते हैं । जीव के अशत्व का कथन करके वल्लभ ने जीव-बहुत्व तथा उनमे परस्पर विभिन्नता का प्रतिपादन किया है ।

जीव औपाधिक नहीं है -

विट्ठलनाथ ने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा है कि यदि मायावादी

---

58. "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः , सर्व एवात्मनो व्युच्चरन्ति, ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्य , "क्षरात्मानावीशते देव एकः, " एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य., " तद्वज्जीवो नभोपम , स वा एष महानज आत्मा योऽय विज्ञानमय " इत्यादिष्वित्यर्थः ।
— सुवर्णसूत्रम्

जीव को औपाधिक मानकर विस्फुलिग की उष्णता की तरह चेतनता को साधारण धर्म स्वीकार करके तथा जीव को ईश्वर का औपचारिक अंश व्याख्यायित करके, नानात्व का व्यपदेश करने वाली श्रुतियो यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिगा· तथा " य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति " का सामजस्य स्थापित करने का प्र यास करते हैं तो यह विद्वज्जनों के द्वारा उपेक्षणीय है क्योंकि जीव का औपाधिकत्व तथा औपचारिक अंशत्व दोनो ही विरोधी हैं । इसके अतिरिक्त मायावादी आभासवाद तथा प्रतिबिम्बवाद मानते हैं तो यदि जीवभाव ही मिथ्या है तो ज्ञानैकघन परमात्मा की स्थिति तथा अन्तर्यामी रूप से उसका नियमन भी मिथ्या सिद्ध हो जायेगा । अत अग्नि स्फुलिग तथा उष्णता के दृष्टान्त के आधार पर चेतनत्व को साधारण धर्म मानकर जीव के औपचारिक अंशत्व की व्याख्या नही की जा सकती ।

वल्लभाचार्य जी यह मानते हैं कि आनन्दांश के तिरोहित होने से जीवभाव होता है । ब्रह्म के विरुद्धधर्माश्रयत्व का सबसे महत्वपूर्ण हेतु उसका आनन्द स्वरूप हो ना है जीव मे आनन्द का तिरोभाव होने से उसमे "विरुद्धधर्माश्रयत्व" का भी अभाव है। यही कारण है कि जीव ब्रह्म की भाँति "सर्वभवन समर्थ" नही है । वल्लभाचार्य जी जीव को चैतन्य-स्वरूप मानते हैं " स्वयज्योतिष्ट्व" श्रुति के आधार पर चैतन्य को जीव का स्वरूप तथा "गुणाद्वालोकवत्"[59] के अनुसार उसका गुण स्वीकार करते हैं । जीव ज्ञ अर्थात्

---

59. गुणाद्वाऽलोकवत् 2/3/25 अणुभाष्य

चैतन्य स्वरूप है [60] इसीलिए श्रुतियो मे विज्ञानमयादि नामो से इसका उल्लेख है I" ज्ञोऽतएव" सूत्र का भाष्य करते हुए आचार्य जी ने स्पष्टरूपेण मायावादियो के सिद्धान्त पर विरोध प्रकट किया है । वे कहते हैं कि सर्वविप्लववादी ब्रह्मवाक्य को उद्धृत कर सूत्रोक्त सिद्धान्त का भिन्न तात्पर्य बताकर श्रुतिसूत्रो का उल्लघन करके अपनी प्रगल्भता दिखलाते हैं । वे जीव के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन करते हैं अथवा जीवत्व का निराकरण करते हैं, यह स्पष्ट नही हो पाता । यदि ब्रह्मत्व का प्रतिपादन करते हैं तो इष्टापत्ति होती है । अग्नि की अश चिनगारियाँ जो कि अग्नि से छिटक कर अलग हो गई है - उन्हें अग्नि कैसे कह सकते हैं ? यदि जीवत्व का निराकरण करते है तो स्वरूप नाश मानते हैं । जीवत्व को कल्पित भी नही कह सकते , ऐसा मानने मे " अनेन जीवेनात्मना" आदि श्रुति से विरूद्धता होगी । यह अनादि जीव ब्रह्म का विभाग काल्पनिक भी नही हो सकता ऐसा कोई प्रमाण नही है । यदि बुद्धिकृत काल्पनिक माने हो " सदेव सोम्येदमग्र" आदि श्रुति से विरूद्धता होगी । ब्रह्म जीव से अतिरिक्त भी नही है, यदि ऐसा मानेंगे तो समस्त श्रुति सूत्रो की ही अवहेलना हो जायेगी य सर्वज्ञ सर्वशक्ति , अयमात्मा अपहृत पाप्मा अधिक तु भेदनिर्देशात् " इत्यादि मे बोध होगा । इसलिए वैदिक शिष्टमार्ग मे प्रवेश करने के लिए सदंश के बोधक वाक्यो को

---

60. "ज्ञश्चैतन्य स्वरूप, अतएव श्रुतिभ्यो विज्ञानमय इत्यादिभ्य । सर्वविप्लववादी ब्रह्म वाक्यान्युदाह सूत्रोक्तसिद्धान्तन्यथाकृत्य श्रुति सूत्रोल्लघनेन प्रगल्भते ।"
- अणुभाष्य 2/3/18

स्वीकारने वाले " प्रच्छन्न बौद्धाचार्य " शंकर का मत सदैव उपेक्षणीय है ।[61]

मायावादी दार्शनिको का विचार है कि "ब्रह्मबिन्दु-उपनिषद " मे कहा गया है जैसे घट के नष्ट होने पर भी घट परिच्छिन्न आकाश नष्ट नही होता, वैसे ही उपाधि के अर्थात् अविद्या के नष्ट हो जाने पर भी जीव नष्ट नही होता ।[62] इस श्रुति प्रमाण से यह ज्ञात होता है कि उपाधि-अवच्छिन्न ब्रह्म ही जीव-शब्द वाच्य है, निरवयव ब्रह्म का अंश जीव है यह परस्पर विरूद्ध है तथा इसका कोई लौकिक दृष्टान्त समर्थन नही करता, अतएव यह मान्य नहीं हो सकता ।

विट्ठलनाथ मायावादी -दार्शनिक की इस विचारधारा का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जब वैदिक अर्थ विरूद्ध अथवा सदिग्ध प्रतीत होता है तो उसका निर्णय किसी भी लौकिक दृष्टान्त अथवा युक्ति के द्वारा नही किया जा सकता अपितु उसका निराकरण श्रुति तथा स्मृति के द्वारा ही होता है क्योंकि श्रुति तथा स्मृति मे यह स्पष्ट रूपेण निर्दिष्ट है कि " नैषा तर्केण मतिरापनेया" अर्थात् तर्क से कुछ भी निश्चय नहीं करना चाहिए " तथा "अलौकिकास्तु ये भावा न तॉंस्तर्केण योजयेत्" अर्थात् अलौकिक अर्थो मे तर्क नही करना चाहिए। यदि लौकिक युक्ति को ही बलीयसी तथा श्रेष्ठ माने तो श्रुति के तात्पर्य का तथा

---

61 श्रीमद् वल्लभ वेदान्त (अणुभाष्य) 2/3/18

62. घटसंवृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा ।
घटो लीयेत नाकाश तद्वज्जीवोनभोपम. ।। "

— ब्रह्मबिन्दु-उपनिषद

" नैषा तर्केण मतिरापनेया" आदि कथनो की व्यर्थता सिद्ध होगी । लोक में भी यह देखा जाता है कि जहाँ वस्तु का स्वभाव ही कार्य का हेतु होता है वहाँ तार्किक युक्ति की कोई सभावना नही होती । उदाहरणार्थ चुम्बक का स्वभाव ही होता है कि वह लोहे को अपनी ओर आकृष्ट करे ।[63] यदि हम यह माने कि चुम्बकस्थ देवता लौह को अपनी ओर आकृष्ट करता है तथा लौह को आकृष्ट करना उसका स्वभाव है तो इतना विस्तार करने की अपेक्षा यही मान लेना अधिक उचित है कि चुम्बक स्वभाव ही है कि वह लौहतत्व को अपनी ओर आकृष्ट करता है उसी प्रकार श्रुति के अनुसार वस्तु अर्थात् ब्रह्म का साशत्व मान लेना चाहिए ।

श्रुति कहती है कि ब्रह्म निरवयव तथा निरंश है "निष्कलम् निष्क्रियम् ... । किन्तु यही श्रुति बाद मे कहती है कि "यथाग्ने. " तथा "पादोऽस्य विश्वाभूतानि . . " अर्थात् ब्रह्म के साशत्व का निरूपण करती है । व्यास ने भी इस अर्थ का दृढ़ीकरण करते हुए "मत्रवर्णात्" 2/3/44/ तथा "अपि च स्मर्यते" 2/4/45/ सूत्र प्रस्तुत किया है । "मत्रवर्णात् " सूत्र के "पुरूष एवेद सर्वम् " .... पादोऽस्य विश्वाभतानि" {यह सब कुछ पुरूष है इसके एक पाद में विश्व के समस्त भूत हैं । इत्यादि मन्त्र मे जीवो का पादत्व स्पष्टरूपेण व्यक्त किया गया है, पाद रूप से स्थित होने मे अंशत्व निश्चित

---

63 Reason cannot prevail in the field of Supra-sensual things- as also in matters where the very nature of a thing gives rise to a particular effect (like the magnet attracting the iron-fillings by its very nature).

- Mridula Marfatia

Page 264

हो जाता है । न केवल श्रुति मे अपितु स्मृति मे भी जीव का पादत्व एव अशत्व निश्चित किया गया है " ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातन " §श्रीमद्भगवद्गीता § अर्थात् हे पार्थः इस जीवलोक मे मेरा सनातन अश ही जीव है इत्यादि ।

इस प्रकार अभेद श्रुति " उपद्रष्टानुमन्तैष आत्मा सिहश्चिद्रूप " इत्यादि उपपन्न है, भेद सहिष्णु अभेद अर्थात् तादात्म्य ही अभिप्रेत है । जीव ब्रह्माश होने के कारण ब्रह्म ही है ।[64] अर्थात् जीव को ब्रह्म से अभिन्न ही मानना चाहिए ।

यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि पूर्वपक्षी ने" अन्तर्यामि-ब्राह्मण" के आधार पर जीवो को ब्रह्म का शरीर कहा है । लोक मे हम सर्वत्र शरीर एव शरी-री का भेद देखते हैं । अत इस आधार पर ब्रह्म एव जीव का भेद स्वीकार करना चाहिए ।

पूर्वपक्षी की इस शका का समाधान करते हुए शुद्धाद्वैती कहते है कि अन्तर्यामि - ब्राह्म्मण मे जैसे जीव को शरीर कहा गया है उसी प्रकार पृथिवी इत्यादि जड पदार्थों का भी वर्णन है। अत ब्रह्म का शरीर होने से यदि श्रुतियाँ जीव को ब्रह्म का अश बताती हैं तो जड को भी ब्रह्म का अश मानना चाहिए , क्योंकि यह भी जीव जैसा ही है इसके अतिरिक्त " एकोऽह बहुस्या प्रजायेय" इस श्रुति के आधार पर ब्रह्म के शरीर को ब्रह्म से भिन्न नही

---

64. सुवर्णसूत्रम् पृ0 149

मान सकते क्योंकि यदि भिन्न मानेंगे तो सृष्टि के आदि मे ब्रह्म अपने से भिन्न जड - जीव शरीर विद्यमान रहते हुए " एकोऽहं " " मैं एक हूँ " यह नही कह सकता । यद्यपि कि शरीरधारी मानव अन्य प्राणियो के अभाव मे " मैं अकेला हूँ " ऐसा कहते हैं , किन्तु यह जीवो के लिए ही उचित है क्योंकि वे अज्ञानवश शरीरो को अपने से अभिन्न समझते है किन्तु ईश्वर ऐसा नही कह सकता क्योंकि वह भिन्न को अभिन्न अर्थात् अपना आत्मा नही समझता इसके अतिरिक्त " सदेव सौम्येदमग्र आसीत् " अर्थात् " सृष्टि के पूर्व केवल ब्रह्म ही था" " एकमेवाद्वितीयम् " ब्रह्म" इत्यादि और भी अनेक श्रुतियाँ ब्रह्म से भिन्न वस्तु का निषेध करती हैं, इसलिए जीव को ब्रह्म से अभिन्न ही मानना चाहिए । [65]

पूर्वपक्षी दार्शनिक भेदाभेदवादी तथा द्वैतवादी अपना विरोध प्रकट करते हुए कहते हैं कि जीव ब्रह्म का अंश है तो वह सर्वज्ञ क्यो नही है ? जीव ब्रह्मांश या ब्रह्मस्वरूप नहीं हो सकता क्योंकि वह अल्पज्ञ, अज्ञ और भ्रान्त है जबकि बह्म सर्वज्ञ है, यत्किञ्चित् प्रकारेण यह स्वीकार कर भी ले कि जैसे अग्नि अधिक प्रकाशवान् है और विस्फुलिंग अल्प प्रकाश वाला है इसी प्रकार ब्रह्म सर्वज्ञहैऔर उसके अंश जीव अल्पज्ञ रहे किन्तु भ्रान्त अथवा अज्ञ कदापि नही हो सकते । ऐसा माना जाता है कि भ्रम तथा अज्ञान आदि ज्ञान विरोधी

---

65. सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष

होते हैं ।[66] जिस प्रकार विस्फुलिंग मे प्रकाश-विरोधी अन्धकार नही रह सकता उसी प्रकार ज्ञानैकघन ब्रह्म के अंश-स्वरूप जीवो मे अज्ञता इत्यादि नही रह सकते । पूर्वपक्षी का कथन है कि यदि जीव ब्रह्मांश है तो उसको सर्व समर्थ भी होना चाहिए । इसका हेतु देते हैं कि जैसे दृष्टान्तगत अग्निविस्फुलिंग मे अग्नि की दाहक शक्ति रहती है वैसे ही ब्रह्म की नियामिका शक्ति का जीव मे होना आवश्यक है । शुद्धाद्वैती यह भी नही कह सकते कि शरीर का सम्बन्ध हो जाने से जीव असमर्थ हो गये । " यथाऽग्नेक्षुद्राः " इत्यादि श्रुति कदापि जीव को ब्रह्म का अंश नही कहती अपितु प्रलयकाल मे भगवान् के उदर मे समाहित जीव सृष्टि काल मे पुन. बाहर निकलते हैं, इसी ओर संकेत करती है । बृहदारण्यको-पनिषद् मे आयी हुइ श्रुति " नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" का तात्पर्य भी यह नही है कि " ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई देखने वाला नहीं है अर्थात् ब्रह्म एव जीव मे कोई भिन्नता नही है ।[67] किन्तु भ्रान्ति इत्यादि मिथ्या ज्ञान से रहित जिस प्रकार का द्रष्टा ब्रह्म है, ऐसा अन्य कोई नही है । अपने पक्ष की पुष्टि हेतु अद्वैतवादी एक दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं कि - "पार्थ एव धनुर्द्धर" इसका तात्पर्य है कि "पार्थ के जैसा अन्य धनुर्धारीनही अर्थात् ससार मे अनेकानेक धनुर्द्धारी हैं किन्तु उनमे कोई भी पार्थ के सदृश नही है उसी प्रकार ईश्वर की

---

66 जीवस्य विस्फुलिंगप्रकाशवदल्पज्ञत्वोपपत्तौ सत्यां जातु कदाचिदपि भ्रमात्मकोऽय जीव इति नोपपद्यत इत्यर्थ ।
- हरितोषिणी, पृ0 153

67. जीवादिसर्वविषयक दर्शन पदार्थ. स च जीवे नास्तीति भाव । . . यथा ईश्वरस्तथा जीवः सर्वज्ञो नास्तीति भाव ।
..हरितोषिणी पृ0 15

भाँति जीव सर्वज्ञ नही है अत अद्वैतवादियो को औपचारिक अशत्व ही अभिप्रेत है ।

जीव अज्ञ है -

विट्ठल शकर के जीव को ब्रह्म का सामान्य अश मानने के सिद्धान्त से कदापि सहमत नही है, उनका कथन है कि बादरायण व्यास के "अशो नाना-व्यपदेशाद् . " सूत्र का अभिप्राय ब्रह्म के अशत्व को वास्तविक प्रमाणित करना है ।

इसके अतिरिक्त ब्रह्म की सर्वज्ञता तथा जीव की अज्ञता अर्थात् तत्सदृश न होना भी दूषण नही है क्योकि सर्वज्ञतादि धर्म भगवदिच्छा के कारण ही जीव मे तिरोभूत रहते हैं । जीव के स्वरूप मे आनन्दाश तिरोभूत होता है, ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं । आनन्दाश के तिरोभूत होने पर, भगवान् के दैवी गुणो का भी तिरोभाव हो जाता है । दैवी गुण छ होते हैं यथा ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य । इन गुणो तथा आनन्दाश के तिरोभूत होने का कारण भगवदिच्छा है। परमात्मा के इन गुणो के तिरोहित होने का हेतु वल्लभाचार्य जी ने वेदान्तसूत्र 3/2/5/ "पराभिध्यानात्तु तिरोहित ततो हि यस्य बन्धविपर्ययौ" पर भाष्य करते हुए कहा है कि ब्रह्म की स्वय की तथा जीव सम्बन्धी जो भोगेच्छा है , उस भगवदिच्छा से ही जीव के भगवद्धर्मो का तिरोभाव हो जाताहै अर्थात् गुणो के तिरोभाव का कारण है कि भगवान्

का ध्यान छोड़कर जीव जगत्× को भोगने की इच्छा करता है । [68] अत ईश्वर की इच्छा से जीव अल्पज्ञ हो जाता है । ऐश्वर्य का तिरोभाव होने से जीव मे दैन्य एव पराधीनता का भाव आ जाता है , वीर्य का तिरोभाव होने से समस्त दु ख सहन करने पड़ते हैं ,यश का तिरोभाव होने से सर्वहीनता आती है। श्री का तिरोभाव होने से जन्म, मरण के बन्धन मे पड़ जाता है, ज्ञान के अभाव मे देहादि मे " अह बुद्धि " तथा सभी वस्तुओ का विपरीत ज्ञान होता है, वैराग्य का तिरोभाव होने से जीव विषयासक्त हो जाता है । आनन्द तो पहले ही तिरोहित हो गया था जिसके कारण जीव भाव हुआ । इन गुणो के तिरोहित होने के कारण ही जीव के बन्ध मोक्ष होते हैं, स्वभावत नही आनन्दाश के तिरोहित होने से ही जीव काममय होता है और आनन्दाश के रहने पर जीव निष्काम भाव मे रहता है ।

"व्युच्चरण" श्रुति को प्रमाण मानकर जीव के अशत्व का प्रतिपादन –

शकर की जीव के सन्दर्भ मे औपचारिक अशत्व को विचारणा का खण्डन करते हुए विट्ठल का कथन है कि ब्रह्म के मत्स्यादि अवतारो को निजाश तथा जीवो को भिन्नाश बादरायण व्यास ने भी नही स्वीकार किया है । वेदान्त सूत्र 2/3/46/[69] पर भाष्य करते हुए वल्लभ का मानना है कि प्रकाश प्रकाश्य का ही धर्म है किन्तु प्रकाश की प्रतिक्रिया प्रकाश्य पर नही होती उसी

68. अस्य जीवस्यैश्वर्यादि तिरोहितं, तत्र हेतु पराभिध्यानात्, परस्य भगवतोऽमितो ध्यानं स्वस्यैतस्य च सर्वतो [illegible], तस्मादीश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्म तिरोभाव. । – अणुभाष्य 3/2/5

69. प्रकाशादिवन्नैव पर । 2/3/46/ – अणुभाष्य

प्रकार अश, स्फुलिग की प्रतिक्रिया अशी, अग्नि पर नही होगी ।
"नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत्स्यादि" अर्थात् अग्नि स्वय को तप्त नहीं
करती , हिम को स्वय शीतानुभव नही होता । अत जीव के सुख दु ख से
ब्रह्म प्रभावित नही होता ऐसा इसीलिए सभव होता है क्योकि शुद्धाद्वैत मत
मेजीव को ब्रह्म का अश स्वीकार किया जाता है ।

"स्थूणानिरवननन्याय" पद्धति का आश्रय लेकर विट्ठल ने
"विद्वन्मण्डनम् "मेपुन पुन स्वमत अशाशिभाव का विस्तृत प्रतिपादन किया
है । उन्होंने वल्लभाचार्य के सिद्धान्त को अपनी आधार पीठिका बनाकर अपने विचार
प्रस्तु किये हैं । अशाशिभाव के सन्दर्भ मे वल्लभ "मुण्डकोपनिषद्" मे वर्णित
"व्युच्चरण" श्रुति की प्रामाण्यवता स्वीकार करते हैं -

" वह सत्य यह है कि जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के
स्वरूप वाली सहस्रो चिनगारियाँ प्रकट होती हैं उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म
से नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और उसी मे विलीन हो जाते है।[70]

विट्ठलनाथ यह मानते हैं कि अग्नि रूपी अशी तथा स्फुलिग रूपी
अश मे जो धर्म हैं उन्ही का कथन श्रुति जीव मे भी करती है । जीव एव
ब्रह्म के सम्बन्ध को स्पष्ट करने हेतु अग्नि एव स्फुलिग का दृष्टान्त ही
अवसरानुकूल है । अग्नि स्फुलिग तथा जीव मे सात समान धर्म पाये जाते हैं -

---

70. तदेतत्सत्य यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिगा ,
सहस्रश प्रभवन्ते सरूपा ।
तथाक्षराद्विविधा सोम्य भावा ।
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति ।।
- मुण्डकोपनिषद्, प्रथम खण्ड

प्रथम - अंशत्व

द्वितीय- अंशी से विभाग होना

तृतीय- अणुत्व

चतुर्थ - अंशी का अंश से महत्वपूर्ण होना ।

पंचम - अंशी मे अंश की पुन. प्रवेश योग्यता

षष्ठ - प्रविष्ट होने पर भिन्न प्रतीत न होना

सप्तम - प्रविष्ट होने पर पुन निर्गमन योग्यता

अंशांशिभाव की यह समस्त शर्तें "जीव" पूर्ण करता है । श्रुति एवं स्मृति जीव का अंशत्व प्रमाणित करती हैं, व्युच्चरण श्रुति अंश-अंशी क्रमश जीव एवं ब्रह्म का विभाग प्रतिपादित करती है । श्वेताश्वतर उपनिषद् की श्रुति " आराग्रमात्रोह्यपरोऽपि दृष्ट. " जीव को अणुपरिमाण वाला घोषित करती है । "अधिक तु भेद निर्देशात् " - सूत्र अंश जीव की तुलना मे अंशी ब्रह्म का महत्व अधिक प्रतिपादित करती है । "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" श्रुति मे और "अस्मिन्नस्य च तद्योग शास्ति" सूत्र मे जीव की ब्रह्म में पुनर्प्रवेशयोग्यता बतायी गयी है । ब्रह्मभाव होने पर श्रुति जीव की अभिन्नता भी प्रकट करती है - " स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकेमेवानुलीयते । " जैसे लवण जल मे डाल दिया जाये तो वह जल मे ऐसा घुल जाता है कि जल एवं लवण मे भेद ज्ञात नहीं होता । " गति सामान्यात्" सूत्र मे व्यास ने भी जीव-ब्रह्म अभेद की पुष्टि की है । "गति" का अर्थ है मोक्ष । मुक्ति की दशा मे जीव एवं ब्रह्म

की अभिन्न प्रतीति होती है । " यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतर पश्यति " इस प्रकार उपक्रम करके " विज्ञातारमरे केन विजानीयात् श्रुति के द्वारा ब्रह्म के साथ जीव का तादात्म्य ही प्रकटित होता है ।[71]

"मोक्ष की दशा मे जब जीवो के आनन्द ऐश्वर्यादि धर्म प्रकट हो जाते हैं तब ब्रह्म के सदृश जीव भी विरुद्धधर्माश्रयी बन जाता है । "जैसे यशोदा के गोद मे बैठे हुए श्री कृष्ण ने छोटे से मुखारविन्द मे त्रैलोक्य की प्रतीति कराकर अपनी आत्मा को सम्पूर्ण जगदाधार और व्यापक प्रमाणित कर दिया था, उसी प्रकार मोक्ष दशा में जीव अणु रहते हुए भी व्यापक कार्य कर सकता है ।"[72]

जिस प्रकार ईश्वर अवतार लेते हैं उस समय उनके साथ क्रीडा करने योग्य मुक्त आत्माये ही होती हैं अत इन मुक्तात्मा जीवो को ईश्वर पुन अवतरित करते हैं । इसी को जीव की पुनर्निर्गमन योग्यता कहते हैं ।

मुक्त पुरूषो की पुनर्देहप्राप्ति सासारिक सुखोपभोग के लिए नहीं होती अपितु भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने उनके साथ विहार के लिए होती है । अत इससे न स पुनरावर्तते तथा" अनावृत्ति· शब्दात् " सूत्रों का कोई विरोध नही होता क्योकि वेदव्यास ने "मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् सूत्र के द्वारा तथा " मुक्ता अपि लीला विग्रहैं कृत्वा भजन्ते " - §श्रीमद्भागवतपुराण§ के

---

71. विद्वन्मण्डनम् - सुवर्णसूत्रम् , पृ0 173, 174, 175

72 सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष, पृ0 67

द्वारा मुक्त पुरूषो को भगवदीयलीला मे सम्मिलित होने का स्पष्ट आदेश है ।

इस स्थल पर पूर्वपक्षी यह आक्षेप करता है कि प्रवेश एव निर्गमन तो परिच्छिन्न , सीमित पदार्थों मे ही दृष्ट हैं, ब्रह्म जैसे अपरिच्छिन्न विषय में प्रवेश एव निर्गमन किस प्रकार सभव है।

इसके प्रत्युत्तर मे विट्ठलनाथ कहते हैं कि इस तरह तो विभागत्व और अशत्व आदि भी उपपन्न नही होंगे, परन्तु श्रुति की सस्तुति के आधार पर वे स्वीकृत हैं । [73] जिस प्रकार " सर्वत· पाणिपादान्ताश्चेति" श्रुति के आधारपरपाणिपादत्व को स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार अन्तस्त्व तथा बहिष्ट्व भी मान्य होना चाहिए, अत प्रवेश एव निर्गमन स्वीकार करने मे कोई दोष नही है ।

इस प्रकार विट्ठलनाथ ने जीव एव ब्रह्म के मध्य अशांशिभाव रूप सम्बन्ध स्वीकार किया है । उन्होंने विद्वन्मण्डनम् मे "अशाशिभाव" की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है । उनके इस सिद्धान्त का सारतत्व यही है कि जैसे आग से तत्सम असख्य चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से जगत् के विविध पदार्थों की सृष्टि होती है और उसी मे अन्तत लय भी हो जाता है। जीव भाव वास्तविक है । विट्ठलमानते हैं

---

73. उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत ... .. . . . . " इत्यादि श्रुत्याऽस्यापि निर्णयेन परिहारसाम्यान्नाय पर्यनुयोगो युक्त ।

– सुवर्णसूत्रम् , पृ0 180

कि जो श्रुति अथवा स्मृति जीव को व्यापक घोषित करती हैं उनका तात्पर्य जीव मे ब्रह्म के धर्मों को बताकर जीव को ब्रह्मांश सिद्ध करना है, न कि व्यापक सिद्ध करना । "अंशोनानाव्यपदेशात् " " तद्गुण सारत्वात्... इत्यादि वेदान्तसूत्रों के द्वारा पूर्णतया स्पष्ट है कि जड पदार्थों से विलक्षण जीव मे विद्यमान सभी गुण ब्रह्म के हैं इसलिए श्रुतियाँ और स्मृतियाँ जीव को ब्रह्म कहती हैं ।

आचार्य विट्ठलनाथ ने अपने ग्रन्थ "विद्वन्मण्डनम् " मे विशेष रूप से प्रतिबिम्बवाद एव आभासवाद का तार्किक खण्डन प्रस्तुत किया है तथा वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित जीव एव ब्रह्म के सम्बन्ध विषयक "अंशांशिभाव सिद्धान्त" को विट्ठल ने भी उसी रूप मे स्वीकार किया । उन्होंने शंकर द्वारा स्वीकृत बिम्बप्रतिबिम्बभाव अथवा आभास्य आभासक को न स्वीकार करके "अंशांशिभाव" स्वीकार किया तथा इस सम्बन्ध को दृढ़ करने हेतु अपने अकाट्य तर्क भी प्रस्तुत किये । विट्ठलेश्वर मानते हैं कि भक्ति की अपेक्षाये अंशांशिभाव के द्वारा ही पूर्ण होती है । आराध्य एव आराधक के मध्य जिस भिन्नता की आवश्यकता है वह "अंशांशिभाव" से ही सहज रूप से पूर्ण होती है । विट्ठल ने "अंशांशिभाव की व्याख्या करते हुए "अंशत्वम्" " अंशिनोऽशान्महत्वम् " आदि जो धर्म परिगणित किये हैं उनसे यह बात स्पष्ट है । [74]

---

74 विद्वन्मण्डनम् - पृ0 171 द्रष्टव्य

जीव अणु परिमाण वाला है -

ब्रह्म जीव सम्बन्ध विषयक विवेचन के पश्चात् हम जीव के परिमाण के सन्दर्भ मे वल्लभ एव विट्ठल के विचारो का सहत-रूप प्रस्तुत करेंगे ।

शुद्धाद्वैत दर्शन मे जीव का परिमाण अणु माना जाता है । जीव सत्चित् अश प्रधान होता है, चिदश का धर्म है अणुत्व । अत यह स्वत सिद्ध है कि जीव का परिमाण "अणु" हो ।

प्रतिपक्षी तर्क प्रस्तुत हुए कहते हैं कि जीव महत्(परिमाण वाला है क्योकि यदि जीव को अणु माना जायेगा तो समस्त शरीर मे चैतन्यता का बोध किस तरह हो पायेगा ? यौक्तिक विचार से भी जीव को अणु मानना अनुचित है, क्योकि सम्पूर्ण शरीर मे जो चैतन्य व्याप्त है, वह जाव का गुण है। गुण अपने गुणी के अतिरिक्त अन्यत्र नही रहता । अतः जीवात्मा यदि अणु है तोउसका गुण चैतन्य सम्पूर्ण शरीर मे कैसे रहता है ? चैतन्य को भी उतने ही स्थान मे रहना चाहिए जितने स्थान मे उसका धर्मी, जीवात्मा रहता है ।

शांकरवेदान्ती का यह कथन है कि ब्रह्म ही उपाधि ग्रस्त होकर जीव रूप मे आभासित होता है अत जो परिमाण ब्रह्म का होगा वही जीव का भी होगा । श्रुति मे भी जो जीव सम्बन्धी विभुत्वकथन हैं वह जीव को महत् परिमाण वाला मानने पर उपपन्न हो जायेगा । श्रुति मे जीव का जो

अणुत्व व्यपदेश है, उसकी अन्विति "उपाधि" मानकर की जा सकती है । वेदान्त सूत्र पर शंकर भाष्य करते हुए कहते हैं कि जीव का अणुत्व उपाधि सम्बन्ध से होने के कारण औपचारिक है और महत्परिमाण ही वास्तविक है ।[75]

उत्तर पक्ष का यह तर्क कि शरीर के किसी एक स्थान मे लगा हुआ चन्दन सारे शरीर को शीतलता प्रदान करता है वैसे ही स्थान- विशेष मे स्थित चैतन्य जीव के समस्त शरीर को चेतन रखता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य दृष्टान्त मे चम्पक पुष्प की सुगन्ध अन्यत्र भी अनुभत होती है किन्तु यह दोनो दृष्टान्त अनौचित्य पूर्ण है। पुष्पादि सुगंध फैलाने वाली वस्तुओ के सूक्ष्म अवयव वायु के द्वारा उड़कर मनुष्य की नासिका तक पहुँचते हैं, इसी तरह मनुष्य के शरीर के एक स्थान पर लगे हुए चन्दन की शीतलता सम्पूर्ण मे फैल जाती है इसका कारण चन्दन के सूक्ष्म-अवयवो का शरीर मे फैलना ही है । यदि जीव को अणु परिमाण वाला माना जायेगा तो वह सम्पूर्ण शरीर में उपलब्ध नही होगा । यहाँ दृष्टान्त एव दार्ष्टान्तिक मे सामानता नही है ।[76]

" यद्यपि आत्मा को शरीर-परिमाण मानने से शरीर-व्यापि-चैतन्य की स्थिति का समर्थन हो सकता है परन्तु शरीर-परिमाण मानने से

---

75 शांकर भाष्य 2/3/29
76 विद्वन्मण्डनम् - पृष्ठ 184 - 185 द्रष्टव्य

आत्मा का नित्यत्व नही रहता क्योकि शास्त्र-मर्यादा के अनुसार अणु और व्यापक वस्तुओ को ही नित्य मान सकते हैं, मध्यम परिमाण की वस्तु को नित्य नही मान सकते । कहने का तात्पर्य यह है कि यदि आत्मा अणु परिमाण वाला माना जाये तो सम्पूर्ण शरीर मे चैतन्य की स्थिति नही हो सकती और मध्यम-परिमाण माना जाये तो आत्मा नित्य नही हो सकता इसलिए इन दोनो विसगतियो को दूर करने के लिए आत्मा को विभु परिमाण वाला ही मानना चाहिए, जो श्रुतियाँ जीवात्मा को अणु कहती हैं उनका तात्पर्य केवल जीवात्मा को दुर्बोध प्रमाणित करना है । [77]

शकर के इस सिद्धान्त के विपरीत वल्लभाचार्य जीव को अणुपरिमाण वाला मानते हैं । "तत्वदीपनिबन्ध " मे " जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गन्धवद् व्यतिरेकवान् " कारिका पर भाष्य करते हुए आचार्य वल्लभ कहते हैं कि "जीव आर के अगभाग [78] के बराबर परिमाण वाला और गन्ध की भाँति अथवा सुगन्ध युक्त कमलादि के समान व्यतिरेकवान् अर्थात् अपनी स्थिति के देश की अपेक्षा अधिक देश में उपलब्ध होने वाला चैतन्य है । कारिका में आया आराग्र मात्र" जीव के आराग्र परिमाण होने का प्रतिपादक है क्योकि जीव बुद्धि के गुण से अगुष्ठमात्र और अपने गुण मे आराग्रमात्र जानाजाताहै- [79]

---

77. सटीक विद्वन्मण्डनम् का हिन्दी निष्कर्ष -
    पृ० 61, 62
78. व्रीहि के अग्रभाग को आर कहते हैं ।
79. तत्वार्थदीपनिबन्ध - केदारनाथ मिश्र

"अगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूप सकल्पाहकार समन्वितो य ।
बुद्धेर्गुणनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपिदृष्ट ।।[80]

वल्लभाचार्य ने "तत्वदीपनिबन्ध" मे स्पष्ट रूप से कहा है कि " व्यापकत्व श्रुतिस्त्वस्य भगवत्वेन युज्यते "[81] अर्थात् जीव व्यापक नही है बल्कि भगवद्भाव होने पर सभी भगवद्धर्मों का उसमे व्यपदेश होने लगता है । जिस प्रकार अग्नि सन्तप्त अयोगोलक मे दाहकता रहती है किन्तु मात्र अयोगोलक के रूप मे वह दाहक नही होता अपितु दाहकता अग्नि मे रहती है जो सम्पर्क के कारण अयोगोलक मे उपचरित होती है । इसी तरह से जीव ब्रह्मांश होने पर भी ब्रह्म के सदृश व्यापक नही होता अपितु अणु होता है ।[82]

यद्यपि कि शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे जीव को अणु तो मान लिया जाता है किन्तु उनके सामने सबसे बड़ी कठिनाई जीव की सकलशरीरगत व्याप्ति से सामजस्य बैठाना है । वल्लभाचार्य ने "वेदान्त सूत्र" के तीन सूत्रो [83] मे प्रदत्त दृष्टान्तो के साथ अपने "अणुत्व" सिद्धान्त की अन्विति बैठा ली है । जीव को "अणु" मानने के सन्दर्भ मे विट्ठल ने लगभग वही युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं जो

---

80. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 5/8
81. तत्दीपनिबन्ध 1/57
82 तत्वदीप निबन्ध पर आवरणभग टीका- 1/57 द्रष्टव्य
83 क- अविरोधश्चन्दनवत् 2/3/23
ख- गुणाद्वाऽऽलोकवत् 2/3/25
ग- व्यतिरेको गन्धवत् 2/3/26 - अणुभाष्य

वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्तों मे यदा कदा व्यक्त की हैं।

"अविरोधश्चन्दनवत् " सूत्र मे पहला उदाहरण चन्दन का दिया गया है। जिस प्रकार एकदेश मे स्थित चन्दन सम्पूर्ण शरीर मे शैत्य काप्रसार कर देता है इसी प्रकार एक देश मे स्थित अणु जीव सम्पूर्ण शरीरमे चैतन्य का सचार कर देता है।

"गुणाद्वाडलोकवत् " का भाष्य करते हुए वल्लभ कहते है कि एक स्थान पर स्थित दीपक प्रकाश के द्वारा सम्पूर्ण गृह मे व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार अणुजीव भी चैतन्य के द्वारा सम्पर्ण शरीर मे व्याप्त हो जाता है ।

तीसरा सूत्र है "व्यतिरेकोगन्धवच्च " अर्थात् जैसे सुगन्ध अपने धर्म से अधिक स्थान मे रहता है वैसे ही जीव का चैतन्य अपने से अधिक प्रदेश मे रहता है ।

विट्ठलनाथ यह मानते हैं कि उपर्युक्त वेदान्तसूत्रों का पूर्वपक्ष ने जो यौक्तिक खण्डन प्रस्तुत किया है वह अनुचित है । विट्ठल ने "विद्वन्मण्डनम् " मे कतिपय नवीन दृष्टान्तो को प्रस्तुत करके यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जीव अणु है यथा सौगन्धिक वस्तुओ के अवयव सर्वत्र ही विकसित नही हो जाते उदाहरणार्थ वणिक के गृह मे चर्मपुट से वेष्टित कस्तूरी डिब्बे में बन्द होती है किन्तु उस स्थान पर पहुँचते ही मनुष्यो को उसकी गन्धानुभूति होती है, उसी तरह से लशुन केस्पर्श मात्रसे ही, उसकी

गन्ध हाथो मे ससृष्ट हो जाती है ।[84] इन दृष्टान्तो से यही सिद्ध होता है कि गन्ध अपने धर्मी से अधिक प्रदेश मे रहता है ।

विट्ठल स्पष्ट रूप मे कहते है कि धर्मी से अधिक प्रदेश में धर्म की स्थिति को न केवल वह स्वीकार करते हैं बल्कि "अक्षपाद" अर्थात् नैयायिक भी स्वीकार करते हैं । नैयायिक यह मानते हैं कि "समवाय - सम्बन्ध " नामक एक नित्य धर्म है जो गुण गुणी, क्रिया-क्रियावान्, अवयव-अवयवी, जाति-व्यक्ति, नित्यद्रव्य तथा विशेषो मे रहता है। यह "समवाय" दो वस्तुओ मे रहता हैं किन्तु इसकी यह विशेषता हैकि यह धर्मी अर्थात् आधार के बिना भी रह सकता है, क्योकि नित्य होने से उसका अभाव तो हो ही नहीं सकता । अत जैसे" समवाय" धर्मी से रहित होकर रहता हैउसी प्रकार अणु जीवात्मा का चैतन्य भी अपने धर्मी के बिना सम्पूर्ण शरीर मे रह सकता है ।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य बात यह है कि न्याय-वैशेषिको के "समवाय" की इस सकल्पना का खण्डन न केवल समस्त वेदान्ती दार्शनिको ने किया है अपितु वल्लभाचार्य ने भी अणुभाष्य [85] मे किया है। अत यह

---

84. विद्वन्मण्डनम् -पृष्ठ 187, 188 द्रष्टव्य

85. (क) समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थिते । 2/2/13

(ख) **-----And it is indeed surprising and strange that Vitthala has to press into service the concept of Samvaya of the Vaisesika which all Vedantins- whatever their mutual differences- are at one in denying.'**

**- The Philosophy of Vallabhacarya**
**- Mridula Marfatia, Page 271**

आश्चर्यजनक बात है कि वल्लभ के सिद्धान्तो के अनुयायी विट्ठल ने इस स्थल पर उनका उल्लघन करके नैयायिको की " समवाय " विषयक सकल्पना को अपने सिद्धान्त में स्थान दिया ।

अत उनकी इसविचारधारा के आधार पर हम कह सकते है कि विट्ठल ने "विद्वन्मण्डनम् " मे अपनी मौलिकता भी प्रदर्शित की है।

पूर्वपक्षी यह मानते हैं कि जैसे अग्नि और उसकी उष्णता पृथक् नही हैं उसी तरह जीव एव उसका चैतन्य भी भिन्न नही है । अत चैतन्य सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है जबकि जीव एक देशवर्ती है, ऐसा मानना उचित नहो है, अत आत्मा को विभु परिमाण वाला ही मानना चाहिए ।

इसके उत्तर मे विट्ठल कहते हैं कि अग्नि और उसकी उष्णता भिन्न-भिन्न हैं । यदि एक होती तो जब मणिमन्त्रो तथा औषधियो के द्वारा जब अग्नि की उष्णता शीतलता मे परिवर्तित हो जाती है तब अग्नि को नष्ट हो जाना चाहिए ? किन्तु अग्नि तो उस काल मे भी रहती है । "पृथगुपदेशात् " 2/3/28/ सूत्र पर भाष्य करते हुए वल्लभ कहते हैं कि "प्रज्ञया शरीर समारूह्य " इत्यादि श्रुति मे जीव को शरीर से भिन्न बताया गया है । अत जीव एव चैतन्य मे भिन्नता है ।

इसी तरह से जीव को यदि व्यापक माना जायेगा तो चन्द्रलोक स्वर्गलोकादि मे जीवो के गमन को बताने वाली श्रुतियॉ तथा स्मृतियाँ भी

निरर्थक हो जायेगी क्योंकि व्यापक जीव चन्द्रलोक या स्वर्ग लोक मे नही जा सकते ।

विट्ठल "तत्वमसि" महावाक्य का अर्थ ब्रह्म एव जीव का पूर्णतया अभेद नही मानते, उनका तादात्म्य उसी प्रकार का है जिस प्रकार मन्त्री को भी लोक मे राजा कह दिया जाता है वैसे ही जीव को ब्रह्म कहा गया है। सम्पूर्ण मैत्रेयी ब्राह्मण मे जीव भगवद्रूप से ही वर्णित है ।[86]

जीव के विभु परिमाण का खण्डन करते हुए विट्ठलनाथ कहते हैं कि "तमुत्क्रामन्त प्राणोऽनत्क्रामति " श्रुति जीव और उसकी उपाधि प्राण का पृथक्-पृथक् शरीर से निर्गमन बताती है किन्तु निर्गमन व्यापक जीव के लिए असभव है।

जो श्रुति तथा स्मृति जीव को व्यापक कहती है उनका तात्पर्य जीव मे ब्रह्म धर्मों की प्रतीति कराके उसको ब्रह्माश प्रमाणित करना है, वस्तुत व्यापक कहना नही है ।

अत "जीव विचार" के अन्त मे विट्ठलनाथ "आभास एव च" सूत्र पर वल्लभ भाष्य की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि जैसे अनाचारी ब्राह्मण मे ब्राह्मणाभास रहता है, यज्ञोपवीत धारण करने परभी उसमे ब्राह्मण नामक देव T का तिरोभाव रहता है उसी प्रकार आनन्दाश के तिरोहित रहने से जीव सच्चिदानन्द ब्रह्म का आभास है किन्तु आभास का

---

86. 2/2/29/ अणुभाष्य

तात्पर्य यहाँ मिथ्या रूप से अभिप्रेत नहीं है ।

इस विस्तृत विवेचना के पश्चात् विट्ठलनाथ की जीव सम्बन्धी विचारधारा की जो रूप रेखा स्पष्ट होती है वह इस प्रकार है -

जीव ब्रह्माश है । वह वास्तविक एव ब्रह्म की अभिव्यक्ति विशेष है । विट्ठल ने शंकर के प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद तथा अध्यारोपवाद का खण्डन किया । वह मानते हैं कि जीव ब्रह्म का सत् तथा चित् प्रधान अश है । आनन्दाश के तिरोहित होने के कारण ही जीव भाव होता है।

जीव नित्य एव वास्तविक हैं वह अज्ञ है इसीलिए दु खी है । वह कर्त्ता एव भोक्ता है।

विट्ठल ब्रह्म एव जीव के मध्य अशाशिभाव मानते हैं जिस प्रकार अग्नि से अनेकानेक विस्फुलिंग निकलते हैं उसी प्रकार ब्रह्म से जीव आविर्भूत होते हैं ।

जीव अणु परिमाण वाला है । जैसे सुगन्ध अपने धर्मी से अधिक देशवर्ती होता है उसी प्रकार जीव का चैतन्य भी सकल शरीर मे व्याप्त होता है ।

इस प्रकार विट्ठल ने वल्लभ द्वारा अस्पष्ट छोड़े गये अशो का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है। अपनी खण्डन-मण्डन प्रवृत्ति के द्वारा उन्होने जीव से सम्बन्धित कतिपय प्रश्नों का विशद विवेचन किया है जीव से सम्बन्धित समस्त धारणाओ पर उन्होंने विचार नही कियाहै।

# पंचम - अध्याय

## " गोस्वामी विट्ठलनाथ की लीला विषयक धारणा "

गोस्वामी विट्ठलनाथ की " लीला विषयक धारणा " का शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे महत्वपूर्ण स्थान है । " लीला - तत्व " का जैसा विवेचन विट्ठलनाथ ने किया वैसा और किसी आचार्य ने नही किया । यहाँ तक कि वल्लभाचार्य ने भी "लीला" का वर्णन नही किया है । " लीला-तत्व" का वर्णन विट्ठलेश्वर ने अपने सिद्धान्तो को व्यावहारिकरूप प्रदान करने के लिए किया । परब्रह्म की उपासना जब अवतार रूप से की जाने लगती है तब सामान्य एव तुच्छ जन के लिए ईश्वर प्राप्ति का मार्ग सर्वसुलभ हो जाता है ।

शुद्धाद्वैत दर्शन के ब्रह्मविषयक सिद्धान्तो का विश्लेषण करने से यह ज्ञात होता है कि उनके सिद्धान्त श्रीमद्भागवतपुराण की विचारधारा से प्रभावित हैं । वल्लभाचार्य जी ने अपने ग्रन्थ "तत्वदीपनिबन्ध " मे स्पष्ट रूपसे कहा है कि उन्होने ब्रह्मविषयक चार प्रमाणो पर विचार किया है - वेद, गीता, वेदान्त सूत्र तथा श्रीमद्भागवतपुराण ।[1]

वास्तव मे वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों पर सर्वाधिक प्रभाव श्रीमद्भागवतपुराण का है । भागवतपुराण मे श्रीकृष्ण को जगत् का मूल हेतु जहाँ माना गया है वही दूसरी ओर उनके रसरूपत्व, अवतार तथा लीला का विस्तृत विवरण भी है । इसके अतिरिक्त भागवत मे श्रीकृष्ण की भक्ति का जैसा

---

1. वेदा श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि ।
   समाधि भाषा व्यासस्य प्रमाण तच्चतुष्टयम् ।।"

अवकाश है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता । भागवत पुराण में उपनिषदों के शुष्क और अनाकर्षक ब्रह्म को श्रीकृष्ण का बहुरंगी, स्नेहात्प्रेरक तथा अपूर्वगरिमामय आकर्षक रूप प्राप्त हो गया ।

वल्लभ की ब्रह्म सम्बन्धी मान्यतायें भी श्रीमद्भागवतपुराण की मान्यताओ के अनुकूल है । भागवत में वर्णित " भक्ति" के आधार पर ही वल्लभ म ने पुष्टि-सम्प्रदाय की स्थापना की । "वे श्रीकृष्ण को ही पूर्ण परात्पर ब्रह्म स्वीकार करते हैं । श्रीकृष्ण रसरूप है और उनके इस दिव्य आनन्द की अभिव्यक्ति उनकी विभिन्न लीलाओ मे हुई है । "[2]

वल्लभाचार्य यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय भक्ति है । उपनिषद मे वर्णित ब्रह्म एव भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण एक ही हैं ऐसी धारणा बन जाने के कारण उसके साथ रस, अवतार एव लीला को धारणा भी सयुक्त हो गयी । विट्ठलनाथ ने "विद्वन्मण्डनम्" मे ईश्वर की लीला-विषय पर अपने विचार स्पष्ट किये हैं, जिन पर सक्षेप मे यहाँ पर प्रकाश डाला जायेगा ।

लीला का स्वरूप -

श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म हैं । उनकी लीला वास्तविक है, लीला वास्तविक मानने पर श्रीकृष्ण के ज्ञानैकघनत्व अथवा परिपूर्णता बाधित नहीं होती क्योंकि ब्रह्म विरूद्ध धर्माश्रयी है । "सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस: "तथा

---

2. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन -
-डा० राजलक्ष्मी वर्मा, पृ० 130

तैत्तिरीयक श्रुति " रसो वै सः " इत्यादि ब्रह्म को समस्त आनन्दो का मूलभूत रस तथा रसवान् कहतीहै ।[3]

जगत् मे जितने भी आनन्द हैं वे सब ब्रह्मानन्द के ही अंश हैं । लोक में रस एव रसवान् भिन्न भिन्न होते हैं किन्तु परब्रह्म श्रीकृष्ण विरूद्धधर्माश्रय होने के कारण रस एवं रसवान् दोनो ही हैं, वे सर्वरूप हैं । भगवान् "अखण्डैकरस" है उनके रस का स्रोत कभी समाप्त नही होता ।

ब्रह्म मुख्यतया श्रृंगाररसरूप हैं । भगवान् एक है अत भरतमुनि द्वारा कथित समस्त विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि इत्यादि भी भगवद्रूप होने के कारण रसरूप ही है।

मायावादी यह आक्षेप करते हैं कि श्रीकृष्ण को रसरूप मानने का तात्पर्य यह है कि वह श्रृंगाररसात्मक हैं किन्तु श्रृंगाररस दो आलम्बनो के बिना सिद्ध नहीं हो सकता जैसे लोक में परस्पर अनुरक्त स्त्री- पुरूषात्मक आलम्बनों के बिना अपनी स्थिति नहीं रख सकता उसी प्रकार यदि श्रीकृष्ण श्रृंगाररसरूप हैं तो उनके दो आलम्बन क्या हैं ?

इसके उत्तर में विट्ठल कहते हैं कि भगवान् का रतिरूप स्थायी भाव, भगवान् से भिन्न नहीं है, क्योंकि अद्वैत श्रुति के आधार पर ब्रह्म के

---

3. तथाहि - भगवत्स्वरूपम् हि श्रुत्यैकसमधिगम्यम् । तत्र च "सर्वकामः सर्वगन्ध सर्वरस इत्यनेन सर्वकामरूपत्वं, तद्रत्वं च सर्वरसरूपत्व तद्रत्वेन सर्वरसभोक्तृत्व च प्रतिपाद्यते । तैत्तिरीयकेऽपि " रसो वै स. " रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवतीति पठ्यते । "विद्वन्मण्डनम् , पृ0 252-253

धर्म ब्रह्मात्मक ही माने जाते हैं । भगवान् भावरूप भी हैं और रस रूप भी हैं तथा रस का आलम्बन भीवहीं हैं । इसी तरह ब्रज सुन्दरियों के रतिरूप स्थायी भाव भगवान् ही हैं और उसका आलम्बन भी श्रीकृष्ण ही हैं ।

भगवान् का ब्रज सुन्दरियो के प्रति जो भाव है वह भगवद् रूप ही है क्योंकि भगवान् के भाव उनके स्वरूप से भिन्न नही हैं । यदि श्रृंगार रस रूप भगवान् से उनका रति भाव पृथक् माना जायेगा तो श्रुति जो एकसाथ उनका रसभोक्तृत्व और रसरूपत्व प्रतिपादित करती है, वह उपपन्न नही होगा ।[4]

" अहं भक्त पराधीनः " इत्यादि दृष्टान्त से प्रमाणित होता है कि भगवान् रसवान् एव रस स्वरूप हैं क्योकि यदि भगवान् भक्तो के वश मे हैं तो अवश्य ही "स्त्रियो वा पुरूषो वा°पि भर्तृभावेन केशवम्" इत्यादि कथनानुसार भावाधीन होकर भगवान् अपना प्रियतम रूप से परिचय देते हैं यह प्रेमभाव मिथ्या नहीं है , क्योंकि शुद्धभाव से भजन करने वाले साधकों के साथ भगवान् का कपटपूर्ण व्यवहार करना सभव नहीं है। " अहं भक्त पराधीनः " इस श्लोक के उदाहरण में " वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रिय सत्पतिं यथा" "पति" शब्द के साथ सत् " पद का जो प्रयोग किया गया है उससे यह सिद्ध होता है कि "पति" अपनी साध्वी स्त्री के प्रेम का हृदय से सम्मान करता है, उसका प्रेम नाटकीय नहीं होता अपितु वास्तविक होता है ।

---

4. विद्वन्मण्डनम् - पृ० 254, 255 द्रष्टव्य

ब्रह्म विरूद्धधर्माश्रयी है । ब्रह्म के धर्म एव ब्रह्म दोनो ही नित्य हैं एव उनमे अभेद है।

पूर्वपक्षी यह शंका व्यक्त करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म के धर्म ब्रह्म से अभिन्न हैं या भिन्न ? यदि धर्मों को स्वाभाविक मानकर उन्हे नित्य माना जायेगा तो वह क्लिष्ट कल्पना होगी तथा ब्रह्म के पक्ष मे जो "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुति का विरोध होगा । अत ब्रह्म के धर्मों को जगत् की तरह कार्य माना जाये तो यही उचित T होगा।[5]

इस आक्षेप के उत्तर मे विट्ठल कहते हैं कि ब्रह्म एव उसके धर्मों की स्थिति वैसी ही माननी चाहिए जैसे कि सूर्य और उसका प्रकाश । [6] भेदबोधक शब्दो के कारण ही सूर्य एव उसका प्रकाश भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु सूर्य स्वयं ही तेजोमूर्ति है अत अभिन्न है । "एकमेवाद्वितीयम् " इत्यादि श्रुति से यही भेदाभेद प्रमाणित होता है। वेदान्त सूत्र 3/2/28 "प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् " मे वेदव्यास ने यही सिद्ध किया है।

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भागवत पुराण के द्वितीय स्कन्ध में " युक्तं भगै. स्वैरितत्र चाध्रुवैः स्व एव धामन् रममाणम् ईश्वरम्" अर्थात् जिन धर्मों का जीवों में रहना ब्रह्म की इच्छा पर निर्भर है ऐसे नित्य सिद्ध धर्मों से युक्त, कहा गया है। विट्ठल कहते है कि भगवान् के धर्म भगवान्

---

5. विद्वन्मण्डनम्, पृ0 274 द्रष्टव्य
6. अत्रोच्यते - यथा सूर्यस्य तेजोरूपस्य प्रकाशोऽपि तद्रूप एवं तद्धर्मरूप. । " विद्वन्मण्डनम् पृ0 274

के समान ही नित्य होते हैं, जिन्हें वह ऐश्वर्यादि धर्म प्रदान करता है उनमे वे धर्म भगवान् की इच्छा पर्यन्त ही स्थित होते हैं। [7]

"सत्यज्ञानानन्तानन्द मात्रैकरसमूर्तय" इत्यादि वाक्यो से ब्रह्म के धर्मों को नित्य तथा सच्चिदानन्दस्वरूप§ कहा गया है। अतः ब्रह्म के धर्मों को जगदादि के समान ब्रह्म कार्य मानना उचित नही है क्योंकि "एकमेवाद्वितीयम्" श्रुति से इतना सिद्ध होता है कि इस जगत् में ब्रह्म से पृथक् कोई वस्तु नही है।

"मध्याह्न के समय मे आकाश मे सूर्य की ही सत्ता रहती है और कोई नहीं रहता" इस दृष्टान्त से यह अर्थ नही निकलता कि सूर्य के साथ उसकी प्रभा नही रहती। सूर्य की प्रभा उसका स्वरूपभूत धर्म है, इसी प्रकार ब्रह्म के स्वरूपभूत धर्मों मे अन्यथा कल्पना करना अनुचित है। ब्रह्म के ऐश्वर्य, वीर्य आदि धर्म एव ब्रह्म की लीला सभी सच्चिदानन्द स्वरूप के अन्तर्गत है।

लीला की नित्यता –

ब्रह्म के नित्य होने के कारण उसकी लीला भी नित्य एव वास्तविक है। ब्रह्म की लीला जन्य नहीं है, क्योकि जो पदार्थ जन्य होता है वह अनित्य होता है। लीला तो नित्य स्थित है।

पूर्वपक्षी लीला की नित्यता का विरोध करते हुए कहते हैं कि पर्वत, पशु, पक्षी, मनुष्यादि अनेक अनित्य पदार्थों से सम्बन्धित क्रियात्मक लीला कदापि

---

7– विद्वन्मण्डनम् – पृ0 278 द्रष्टव्य

नित्य नहीं हो सकती । [8]

विट्ठल ने लीला की नित्यता को व्याकरण के नियमानुसार सिद्ध करने का प्रयास किया है । वह कहते हैं कि श्रीमद्भागवत मे लीला की नित्यता को प्रमाणित करते हुए शुकाचार्य ने परीक्षित को कथा सुनाने के समय एक श्लोक पढा -

" जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम् ।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम् ।। [9]

इस श्लोक मे शुकाचार्य ने क्रियात्मक लीला को लक्ष्य करके "अस्यन्" तथा "वर्द्धयन्" जैसे वर्तमान वस्तुवाचक पदों का प्रयोग किया । [10] यदि लीला नित्य न होती तो शुकाचार्य इन पदो का प्रयोग नही करते । पूर्वपक्षी का यह कथन अनौचित्यपूर्ण है कि वर्तमान वस्तुवाचक पदों का प्रयोग कभी-कभी भूत अथवा भविष्यत् काल से सम्बन्धित विषयों के लिए भी किया जाता है ।

किन्तु "वर्तमान" वाचक पद का अर्थ "वर्तमान" समय के लिए ही करना मुख्य है, भूत एवं भविष्यत् के लिए जो प्रयोग किया जाता है वह गौण है ।

---

8- विद्वन्मण्डनम् - पृ0 279, 280 द्रष्टव्य
9- श्रीमद्भागवतपुराण
10- विद्वन्मण्डनम् , पृ0 281 द्रष्टव्य

"जयति जननिवासः" पद मे "शब्दमर्यादा" के कारण "पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण सदैव वर्तमान हैं " यही प्रधानार्थ शुकाचार्य को अभिप्रेत है ।

श्री विट्ठल कहते हैं कि अनेक प्रकार की लीलाओ से सम्बन्धित भगवान के रूप तथा उस रूप के गुण एवं कर्म का अनुसरण करने वाले जो नाम हैं, वह भी नित्य हैं । श्रीमद्भागवत पुराण के दशमस्कन्ध के नामकरण सस्कार के प्रसग मे सर्वज्ञ गर्गाचार्य ने निरूपित किया है –

"बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद, नो जना ।।

उपर्युक्त श्लोक मे जो वर्तमानकालिक क्रिया "सन्ति"का प्रयोग किया गया है , इसकी अन्विति तभी हो सकती है,जब गुण एव कर्म के अनुरूप नाम भी हो । भगवन्नाम श्री अखण्डब्रह्मरूप होते हैं । भगवत्स्वरूप की तरह भगवत्कर्मों का भी आविर्भाव होता है और उनके अनुरूप नामो का भी , अतएव "नाम" की उत्पत्ति की आशका नही करनी चाहिए । [1]

श्री विट्ठलनाथ ने "नाम" की नित्यता की पुष्टि करने का प्रयास "विद्वन्मण्डनम्" मे मुख्य रूप से किया है । वह कहते हैं कि कर्मविशेष से विशिष्ट, तथा उसके अनुरूप नामों से युक्त भगवान् के समस्त रूप नित्य हैं ।

---

1- (क) विद्वन्मण्डनम् , पृ0 288 द्रष्टव्य ।

(ख) सुवर्णसूत्रम, पृ0 288 द्रष्टव्य ।

वह अपने भक्तों को विभिन्न रसों का अनुभव कराने के लिए क्रमानुसार अपने रूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करते हैं ।[12] पूर्व सिद्ध लीला का ही भगवान् की इच्छानुसार क्रम से आविर्भाव होता है।

वेद् मे लीला का स्वरूप-

विट्ठलनाथ कहते हैं कि वेद एवं उपनिषद् में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जो ब्रह्म की नित्य लीला का वर्णन करते हैं । "ब्रह्मकी लीला" अन्य निरपेक्ष है - जिसमे लीला प्रविष्ट भक्तों कीअपेक्षा नही होती है - उसका वर्णन "तदेजति तन्नैजति" इत्यादि औपनिषद् श्रुतियाँ करतो हैं ।[13]

ब्रजभक्तो की सहायता से ब्रह्म जो लीला करता है, उसके समर्थन मे ये संहिता मन्त्र हैं - "विष्णो कर्माणि पश्यत" इत्यादि ।

इन श्रुति प्रमाणो से ब्रह्म की लीला नित्य सिद्ध होती है ।

लीला विषयक सबसे महत्वपूर्ण प्रमाण ऋग्वेद का दिया जा सकता है - " जज्ञान एव व्यबाधतः स्पृध. प्रापश्यद्वीरो अभिपौंस्यरणम् ।
अवृश्चदद्रिमव सः स्यदसृजदस्तभ्नान्नाक स्वपस्यया पृथुम् ।।"

---

12. तेन यत्कर्मविशिष्टस्य यस्य रूपस्य यन्नाम तत्कर्मविशिष्ट तद्रूपं नित्यमेव, लोके परं तेषां भक्तानां तत्द्रसानुभवार्थं क्रमेणाविर्भावः कस्याप्यंशस्य, कस्यचिदाच्छादनमित्येव मन्तव्यम् ।"
-विद्वन्मण्डनम् , पृ0 289

13. सटीक विद्वन्मण्डनम् का हिन्दी निष्कर्ष - पृ0 106

अर्थात् जिसने प्रकट होते ही पूतनादि दैत्यों का संहार किया, मथुरा, द्वारका आदि स्थानो में जरासन्ध आदि दैत्यो के साथ युद्ध किया और इन्द्र ने जब क्रोधित होकर गोकुल का विनाश करने के लिए अतिवृष्टि की तो गोकुल की रक्षा की इच्छा से गोवर्धन पर्वत उठा लिया और आकाश को आच्छादित कर दिया।[14]

यद्यपि कि इस श्रुति मे नित्यता को सूचित करने वाला कोई शब्द नही है किन्तु वेद और उसका अर्थ दोनों ही नित्य है ऐसा महर्षि व्यास स्वीकार करते हैं इसीलिए श्रुति वर्णित लीला की नित्यता मे किसी प्रकार का कोई संशय नही है।

<u>अवतार भी ब्रह्म स्वरूप हैं -</u>

श्री विट्ठल का यह विचार है कि वस्तु के विपरीत ज्ञान से वास्तविक फल का लाभ नही हो सकता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति वायु-शामक औषधि की सेवन की अपेक्षा वायु प्रकोपक औषधि ग्रहण कर ले तो उसका कष्ट दूर नहीं हो सकता उसी प्रकार से जो ब्रह्म नही है उसकी ब्रह्म मानकर उपासना करने से न तो चित्तशुद्धि होती है और न ही क्रममुक्ति होती है। महाभारत मे एक उक्ति आयी है कि -

"योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्माऽपहारिणा।।

---

14. विद्वन्मण्डनम्, पृ0 313, 314 द्रष्टव्य

अर्थात् जो आत्मा के स्वरूप को अन्यथा समझता है उस आत्मा को छिपाने वाले चोर ने क्या पाप नहीं किया ?

यह श्रुति उपास्य रूपों की आत्मरूप से उपासना उचित बताती है ।

श्री विट्ठल यह मानते हैं कि जिस प्रकार ब्रह्म नित्य है उसी प्रकार उसके अवतार भी । अवतार अविद्या कल्पित नहीं हैं ।

जबकि पूर्वपक्षी "वाराह पुराण" के उद्धरण को दृष्टान्त मानते हैं जिसमें कहा गया है कि मत्स्य, कूर्म, वराह आदि दश अवतार परब्रह्म दर्शन करने की इच्छा वाले मनुष्य के लिए साधन का कार्य करते हैं, जैसे साधन अर्थात् सोपान लक्ष्य से भिन्न है उसकी उपयोगिता साध्य को पाने मे साधन बनने तक ही सीमित है । उसी प्रकार ब्रह्म के मत्स्य कूर्मादि अवतार उसकी प्राप्ति का साधन बनते हैं ।

उपर्युक्त समस्त अवतार अविद्याकल्पित हैं, तथापि इनको ब्रह्ममानकर उपासक उपासना करते हैं और उनको अपनी इच्छानुसार आविधक नश्वर फल प्राप्त होते हैं , ऐसा विचार पूर्वपक्षी विद्वान् का है ।

समस्त वैष्णवाचार्य ब्रह्म को लीलाविशिष्ट मानते हैं । लीला के साथ कहीं न कहीं अवतार की धारणा भी सम्पृक्त है। इन आचार्यों का यह विचार है कि भगवान् लोकहित तथा भक्तों की रक्षा के लिए प्रत्येक युग में

विभिन्न रूपों मे प्रकट होते हैं [15] इस प्राकट्य को ही "अवतार" कहा जाता है ।

<u>पूर्णावतार एवं अंशावतार-</u>

वाराह पुराण [16] के "मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामन." श्लोक मे जो अवतारो को परब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले मनुष्यो के लिए सोपान कहा है लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यह अवतार ब्रह्म से भिन्न तथा अविद्या कल्पित है, उपर्युक्त श्लोक मे अवतारो को परब्रह्ममूर्ति कहा गया है यदि अवतार आविद्यक हैं अर्थात् अविद्या के कार्य हैं तो श्रुति तथा स्मृतियों मे परब्रह्ममूर्ति न कहकर अविद्यामूर्ति कहते ।

अवतारो की स्थिति परब्रह्म की अपेक्षा गौण होती है । भगवान् ही आविर्भाव एवं तिरोभाव द्वारा "अवतार" ग्रहण करते हैं । "व्यापि वैकुण्ठ से भगवान् का जगत् में आगमन ही उनका "अवतार" लेना है। [17]

---

15. "परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे-युगे ।।
- श्रीमद्भगवद्गीता

16. मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहोऽथ वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्की च ते दश ।।
इत्येता. कथितास्तस्य मूर्तयो भूतधारिणि ।
दर्शन प्राप्तुमिच्छूनां सोपानानि च शोभते ।।
- वराह पुराण

17. "अवतरणम् अवतारः व्यापिवैकुण्ठात् भगवत प्रपञ्च समागमनम् ।"
-श्रीमद्भागवतपुराण पर सुबोधिनी
2/3/1

भगवान् का आविर्भूत होना भक्ति के निमित्त से है, भक्ति के विभिन्न प्रकार का होने के कारण, ईश्वर का आविर्भूत होना भी वैविध्यपूर्ण है । भगवान् के अवतार क्रिया शक्ति एवं ज्ञान शक्ति प्रधान हैं कि "श्री कृष्ण ज्ञान और क्रिया दोनो से युक्त हैं ।[18] वास्तव मे श्रीकृष्ण परब्रह्म के साक्षात् प्राकट्य हैं, उन्हें तो अवतार मानना ही नही चाहिए । इस पर पूर्वपक्षी यह शका कर सकता है कि निर्गुण, निराकार तथा निरवयव ब्रह्म के स्वरूपभूत अवतारो के मध्य अश और अंशी की विभिन्नता कैसे स्वीकार की जा सकती है ? इसके उत्तर में आचार्य जी का कथन है कि जब भगवान् सत्वगुण को आश्रय बनाकर प्रकट होते हैं तब वह "अंशावतार" कहे जाते हैं । जब परब्रह्म श्रीकृष्ण सत्वादि का आश्रय न लेकर सच्चिदानन्द रूप से प्रकट होते है तब वह पूर्णावतार" कहलाता है ।

जहाँ पर "सत्व" को आधार बनाकर भगवान् का प्राकट्य होता है, उसे "अशावतार" कहते हैं । वल्लभाचार्य कहते हैं कि "सत्वं यस्य प्रियामूर्तिः "विशुद्धसत्व तव धाम शान्तम्" - इत्यादि से यह सिद्ध होता है कि "सत्व भगवान् का अप्राकृत धर्म है ।[19] " इन अंशावतारों के सत्वात्मक विग्रह में भगवान् अपने दिव्यस्वरूप को उसी तरह व्याप्त कर स्थित होते हैं जिस तरह अयः पिण्ड को व्याप्त कर स्थित रहती है, इस प्रकार केवल आविष्ट अश

---

18. "ज्ञानक्रियोभययुतः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।"
 -तत्वदीपनिबन्ध 3/65

19. अणुभाष्य 3/3/3 द्रष्टव्य

का भी ब्रह्मत्व होने के कारण ये अवतार "अंशावतार" कहलाते हैं । "[20]

विट्ठलनाथ अवतार-विषयक " अवधारणा के विषय मे अपने पिता श्री वल्लभ के विचारों से सहमत थे । उनका कथन है कि "अवतारो" को सोपान कहकर ब्रह्म की तुलना में जो उनकी गौणता प्रदर्शित की गयी है वह अनुचित नहीं है, क्योंकि यहाँ ब्रह्म के प्राकट्य को अंशावतार कहा गया है, कृष्ण भी अंशावतार है, जिसे पूर्णब्रह्म का नाम दिया गया है वह श्रीमद्भगवद्गीता के वक्ता श्रीकृष्ण नही है क्योंकि गीता में उन्होंने स्वय ही यह उद्घोषित किया है कि -

"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
पर भावमजानन्तो मम भूत महेश्वरम् ।। "

अर्थात् मुझे सर्वेश्वर आनन्द स्वरूप न जानते हुए मूर्ख लोग मनुष्य समझकर मेरी अवज्ञा करते हैं । इस श्लोक मे श्रीकृष्ण को सर्वेश्वर" तथा आनन्द-स्वरूप बताया गया है।

जिस प्रकार परब्रह्म के अवतार भगवत्स्वरूप हैं, अविद्या के कार्य नही हैं उसी प्रकार वेदान्त-सूत्रोक्त हिरण्मय पुरूषादि उपास्य स्वरूप भी ब्रह्म ही हैं, आविधक नहीं है ।

---

20. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन-
-डा0 राजलक्ष्मी वर्मा पृ0 127

भगवदवतार आविद्यक नहीं हैं -

इन भगवदवतारों की उपासना हो सकती और इनकी उपासना फल प्रदान करने वाली भी होतीहै । अतः समस्त स्थलो पर आविधक कल्पना उचित नही है। सविशेष निरूपिका श्रुतियाँ ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन नहीं करती ऐसा कहना अनुचित है । जिस प्रकार" अस्थूलादि" निर्विशेष श्रुतियाँ ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करती हैं उसी प्रकार सविशेष श्रुतियाँ भी ब्रह्म-स्वरूप का वर्णन करती हैं ।

श्रीमदभागवत पुराण के एकादश स्कन्ध मे "कृते शुक्लश्चतुर्बाहु इत्यादि श्लोक मे चारो युगों[21] के तदनुसार भगवान् के उपास्य बताये गये हैं ।[22] "श्रीमद्भागवत के पंचम स्कन्ध में भी भारत वर्ष, किम्पुरूषवर्ष आदि पृथ्वी-खण्डो का वर्णन करते हुए सब खण्डो मे पृथक्-पृथकें उपास्य स्वरूपों का वर्णन किया गया है। यदि उपासना के आश्रयभत यह अवतार मायिक होते तो इस नियम का होना अत्यन्त दुष्कर था कि शुक्ल भगवान् सतयुग में ही उपास्य हैं और भगवान् नारायण की भारतवर्ष मे पूजा की जाती है, अन्य स्थानों में नही, क्योंकि यदि उपास्य -स्वरूपों को आविधक मानेंगे तो इनकी प्रतीति हर काल मे हर देश मे होनी चाहिए, क्योंकि अविधा की भ्रमात्मक प्रतीति सब देश और सब काल में होती है यथा शुक्ति में रजत प्रतीति के लिए कोई ऐसा नियम नही पाया जाता कि किसी देश में, किसी दिन, किसी मुहूर्त मे

---

21. सतयुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग ।

22. विद्वन्मण्डनम् - पृ0 218 द्रष्टव्य ।

शुक्ति में रजत-प्रतीति होती है, अन्य देश अथवा काल मे नही होती । अत. पूर्वपक्षी की यह धारणा पूर्णतया मिथ्या है कि उपास्य-स्वरूप आविधक होते हैं ।

पूर्वपक्षी उपास्य-स्वरूपो के सन्दर्भ मे अपना विरोध प्रकट करते हुए कहते हैं राम कृष्णादि अवतार रूप में जब अवतरित हुए थे उस समय बालक, युवा, वृद्ध, जिज्ञासु तथा अजिज्ञासु सभी को वे दृष्टिगत हुए थे । इन दर्शकों मे कुछ भक्त थे और कुछ अभक्त थे । अतः उन सभी को मुक्त होजाना चाहिए । अत इन उपास्य स्वरूपो को ब्रह्म मानना अनौचित्य पूर्ण है ।

भगवान् दृश्य हैं -

श्री विट्ठलनाथ अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अवतार-स्वरूपो के दर्शन मे भक्ति और भगवदिच्छा-दोनों कारण हैं । वेदान्त सूत्र "अपि सराधनेप्रत्यक्षानुमानाभ्याम् " §3/2/24§ का भाष्य करते हुए वल्लभाचार्य जी कहते हैं कि संराधना अर्थात् विधिवत सेवा से भगवान् के प्रसन्न हो जाने पर उनको देखा जा सकता है। "भक्त्यात्वनन्ययाशक्य अहमेव विधोऽर्जुन, ज्ञातुं द्रष्टु च तत्वेन प्रवेष्टुं च परतप " §श्रीमद्भगवद्गीता§ अर्थात् हे अर्जुन । मेरे इस रूप को अनन्य भक्ति से ही देखा जा सकता है, इत्यादि वाक्यो से यह निश्चित होता है कि वह सगुण-निर्गुण रूप होते हुए भी दृश्यमान् है ।

आचार्य जी कहते है कि पूर्वपक्षी पूर्णतया व्यामोहित हैं । प्रत्यक्ष, अनुमान तथा श्रुति इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ब्रह्म सगुण तथा साकार है । भगवदिच्छा से ही अवतार दशा में समस्त मनुष्यों को भगवान् के दर्शन होते हैं । किन्तु भक्तों को तो अवतार दशा में भी भगवत्साक्षात्कार भक्ति के ही कारण होते हैं, क्योंकि इन्ही भक्तो के वशीभूत होकर वह लोक मे अवतरित होते हैं । [23]

श्री विट्ठल कहते हैं कि सर्वसाधारण को दृष्टिगत होने पर भी भगवान् के दर्शन का वास्तविक लाभ भगवद्भक्तो को ही होता है । यह सम्पूर्ण जगत् भगवत्स्वरूप है, अत दर्शन अथवा दर्शन के परिणाम में भेद होने पर भी, वैषम्य भगवान् को स्पर्श नहीं कर सकता । इस प्रपञ्च की सृष्टि ईश्वर ने लीला के लिए की है, यदि ईश्वर अलौकिक स्वरूप को प्रदर्शित करके सर्वसाधारण को दिखाये, जिससे सभी की मुक्ति हो जाने से लीला का प्रयोजन ही । व्यर्थ हो जायेगा, इस तरह से ब्रह्म की लीला ही सभव नही हो पायेगी । अत· राम कृष्णादि स्वरूपों को आविधक कहना अत्यन्त अनुचित है । [24]

विद्वन्नाथ कहते हैं कि परमात्मा के गुण अव्यवहार्य नही है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश व्यवहार्य तथा अव्यवहार्य दोनो होता है, वह स्वत. अपनेको न तो सम्पादित कर सकता है और न स्थापित कर सकता है।

---

23. विद्वन्मण्डनम् , पृ0 243 द्रष्टव्य ।
24. विद्वन्मण्डनम् पृ0 243-44 द्रष्टव्य ।

सूर्योदय होने पर तथामेघादि का अभाव होने पर ही सान्निध्यमात्र से उपयोग किया जा सकता है उसी प्रकार ईश्वर को लौकिक-वाणी और मन से नहीं जान सकते । ईश्वर-सन्निधान से ही उसे जाना जा सकता है, यही "त त्वौपनिषदम्" तथा यतो वाचा निवर्तन्ते " इत्यादि श्रुतियों से ध्वनित होता है यदि ऐसा अर्थ नहीं करेंगे तो शास्त्र की विफलता की प्रसक्ति होगी । [25]

विट्ठल की विचारधारा है कि पर-ब्रह्म और उपास्य स्वरूप अवतारों में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं है और वह सविशेष है। " न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकम् .... " इत्यादि श्रुतियों से यह अर्थ नहीं निकलता है ब्रह्म अप्रकाश्य ,अज्ञेय, एवं अदृश्य है। ब्रह्म अपने अनुग्रह के द्वारा अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है तब वह भक्तों के लिए दृश्य, प्रकाश्य एवं ज्ञेय होता है । श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि "मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूप पर दर्शितमात्मयोगात् " अर्थात् "मैंने प्रसन्न होकर यह स्वरूप तेरे लिए दिखाया है, तथा "मनीषितानुभावो ऽय मम लोकावलोकनम्" (श्रीमद्भागवत पुराण) अर्थात् " तुम्हें जो नित्य लीला धाम के दर्शन हुए वह मेरा अनुग्रह है ।"

पूर्वपक्षी के द्वारा ब्रह्म के दृश्यत्व के सम्बन्ध में अनेकानेक शंकाये उठायी गयी हैं उनकाकथन है कि ब्रह्म का दृश्यत्व आविद्यक है, "कश्चिद्धीर·

---

25. यथा सौरादिप्रकाशो व्यवहार्योऽव्यवहार्यश्च । न हि स्वत सम्पादयितु स्थापयितु शक्यते । आगते तु सूर्ये मेघाद्यभावे च सान्निध्यमात्रेण व्यवहारः कर्तुं शक्यते ........ ।

-विद्वन्मण्डनम्, पृ, 245 द्रष्टव्य ।

प्रत्यगात्मानमैक्षत् " इत्यादि श्रुतियों मे भी शुद्ध ब्रह्म का वर्णन नही है ।
इसमे प्रयुक्त प्रत्यगात्मानम् " पद का तात्पर्य मात्र इतना है कि उपास्य
सविशेष ब्रह्म का वास्तविक रूप निर्विशेष ब्रह्म ही है।

इसका खण्डन करते हुए विट्ठलेश्वर कहते हैं कि जिस श्रुति
अर्थात् कश्चिद्धीर प्रत्यगात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" को आश्रय
लेकर ब्रह्म के आविद्यकत्व की घोषणा पूर्वपक्षी ने किया है उसका उपयोग
तो मोक्षार्थी पुरूषो के ब्रह्म दर्शन के लिए है। मोक्ष में उपयोग शुद्ध ब्रह्म
के दर्शन का होता है , आविद्यक दर्शन का नहीं । इसके अतिरिक्त श्रुति
कहती है कि "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिन्द्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि
तस्मिन् दृष्टि परावरे' अर्थात् ब्रह्म दर्शन से हृदय ग्रन्थि, संशय और कर्मो
का नाश होता है । यहाँ यह ध्यातव्य है कि यदि ब्रह्म -दर्शन आविद्यक
होता तो कर्मादि का नाश कदापि सभव नही होता । इसके अतिरिक्त
जो वचन तपस्या, ज्ञान एव भक्ति के द्वारा ब्रह्म को दृश्य बताते हैं,
उनका भी विरोध होगा। सृष्टि के आदि एव अन्त मे जीवो की अविद्या
तो शेष नही रहती अतः उस समय ब्रह्म के धर्मो की कल्पना , जैसा कि
पूर्वपक्षी को मान्य है, उपपन्न नहीं होगी । यदि सृष्टि के समय किसी
तरह अविद्यादि के द्वारा ब्रह्म मे धर्मो की कल्पना होना सभव भी है
किन्तु प्रलय के समय में किसी जीव की ऐसी योग्यता नही होती कि वह
अपने आविद्यक भ्रम से ब्रह्म मे धर्मों को कल्पित कर सके अतएव " प्रलय
के समय भगवान् नारायण शेषशय्या पर शयन करते हैं " पुराण के इस कथन

की उपपत्ति नहीं हो सकती ।[26]

पूर्वपक्षी का यह विचार है कि तप, उपासना तथा भक्ति इत्यादि समस्त साधनो का परिणाम भगवत्-दर्शन नही है अपितु चित्त-शुद्धि है और वह भी आविद्यक है।

इसके प्रत्युत्तर मे विट्ठलेश्वर कहते हैं कि चित्त की शुद्धि निष्काम कर्मों के अनुष्ठान से होती है, काम्य कर्मों की निकृष्टता भगवान् श्री कृष्ण ने "गतागत कामकामा लभन्ते " इत्यादि सूत्रों से बतायी है । अतएव पूर्वपक्षी को यह नही मानना चाहिए कि वेदो के द्वारा निर्दिष्ट समस्त साधन अविद्या कल्पित ही फल देते हैं ।

भगवान् सगुण एवं सविशेष हैं -

ब्रह्म के सगुण एव निर्गुण स्वरूपो मे वास्तविक एव अवास्तविक किसी भी प्रकार का वैभिन्य नहीं है । बादरायण व्यास ने " वेदान्त सूत्र" मे सर्व प्रथम "अथातोब्रह्मजिज्ञासा" सूत्र के द्वारा निर्गुण ज्ञेय ब्रह्म के सन्दर्भ मे विचार करने की प्रतिज्ञा की है ।[27] इसके बाद ही उन्होनें सगुण-ब्रह्म पर विचार किया है -

" जन्माद्यस्य यत., शास्त्रयोनित्वात् "

अर्थात् इस सृष्टि जन्म, स्थिति एव सहार के कर्त्ता ब्रह्म हैं, ऐसा शास्त्र कहता है। इसके अतिरिक्त "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" 1/1/18

---

26. विद्वन्मण्डनम्, पृ0 215 द्रष्टव्य ।
27 विद्वन्मण्डनम्, पृ0 232 द्रष्टव्य ।

मे कहा गया है कि " य एषोऽन्तरादित्ये [28] श्रुति मे जिस हिरण्यमय पुरूष का वर्णन है, वह ब्रह्म है ।

यदि बादरायण-व्यास को निर्गुण एव सगुण ब्रह्म में भेद ही अभीष्ट होता तो वह प्रथम निर्गुण ब्रह्म के विचार की प्रतिज्ञा करके पुन सगुण ब्रह्म पर विचार नही करते ।

इसके अतिरिक्त, "ईक्षतेर्नाशब्दम्" सूत्र ब्रह्म को जगत्कर्ता घोषित करके पुन "तन्निष्ठस्यमोक्षोपदेशात्" अर्थात् उसमे निष्ठा रखने वाले को मोक्ष की प्राप्ति होगी ऐसा कहा है , यदि पूर्वपक्षी के मतानुसार जगत्कर्ता ब्रह्म को वास्तविक न माने तो उसकी निष्ठा करने वालेकोचित्तशुद्धि आदि फल प्राप्त होना चाहिए, जबकि ऐसा नही देखा जाता ।

अत॰ यही स्वीकार करना चाहिए कि सगुण एव निर्गुण जैसा कोई भेद नही है । सगुण ब्रह्म उपास्य है और उसकी उपासना का फल अवास्तविक नहीं है। इसके अतिरिक्त वेदान्तसूत्रकार ने " अपि सराधने-प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् " सूत्र से यही स्पष्ट किया है कि भगवान् आराधना से ज्ञेय हैं । अतः ब्रह्म सगुण एव सविशेष हैं ।

विट्ठल कहते हैं कि जो गुण परब्रह्म में होते हैं वही श्रीकृष्णादि अवतारों में भी पाये जाते हैं । ‡ आत्मारामोऽप्यरीरमत् " ‡भागवत‡ इत्यादि उक्तियो से श्रीकृष्ण को विरूद्धधर्माश्रयी बताया गया है ।

---

28• गंगाधरभट्टी ,पृ0 233 द्रष्टव्य ।

" गीत गोविन्द" के रचयिता जयदेव ने भी " तत्रवेद्मि कुतो गताऽसि" इस पद से श्रीकृष्ण की विरूद्धधर्माश्रयता प्रकट करते हैं ।

परमात्मा सशरीर है किन्तु अनुग्रह से दृश्य है –

पूर्वपक्षी ब्रह्म के लीला कार्य पर प्रश्नचिन्ह लगाते हुए आक्षेप करता है कि ईश्वरीय लीलाये तभी उपपन्न होगी जबकि ईश्वर सशरीर हो । ईश्वर को शरीरवान मानने पर शास्त्रो का विरोध होगा । शरीर विहीन ईश्वर की लीला अवास्तविक होगी ।

इस आक्षेप के उत्तर मे विट्ठलनाथ कहते हैं कि जैसे शरीर रहित ईश्वर अपनी लीला नही दिखा सकता उसी प्रकार शरीर-रहित ईश्वर सृष्टि का रचयिता भी नही हो सकता । जबकि आपके मत मे ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है। विट्ठल नैयायिकों के द्वारा ईश्वर की सिद्धि के सन्दर्भ मे किये गये अनुमान का विवेचन करते हैं । उनका अनुमान वाक्य इस प्रकार है –

" पृथ्वी, अकुरादि कर्त्ता से उत्पन्न हुए हैं
कार्य होने से ।
जो, जो कार्य होता है, वह कर्त्ता से उत्पन्न होता है,
जैसे, घट [29]

---

29. अत्र क्षित्यादिकं कार्यं, सावयवत्वात्, घटवत्, यन्नैवं, तन्नैवम्"
– [illegible], पृ0 258 द्रष्टव्य

" इस अनुमान वाक्य से इतना सिद्ध होता है कि पृथिवी आदि का भी कर्त्ता होना चाहिए, और यह स्पष्ट है कि हमारे जैसे शरीरधारी पृथ्वी के कर्त्ता नहीं हो सकते । इसलिए हमारे जैसे शरीर धारियों से बढ़कर शक्ति रखने वाला ही इसका कर्त्ता हो सकता है और उसी कर्त्ता का नाम "ईश्वर" है ।[30] विट्ठल कहते हैं कि लोक मे जिसमे भी कर्तृत्व होता है उसका शरी‐री होना आवश्यक है।

विट्ठल ने नैयायिको की विचारधारा का विस्तृत विवेचन करके उनका खण्डन प्रस्तुत किया है । विषय-विस्तार के भय से मैंने मुख्यांश का ही वर्णन करने का प्रयास किया है।

नैयायिक मानते हैं कि शरीर के बिना भी कर्तृत्व सभव है जैसे वायु मे जन्यता होती है किन्तु रूप नही । कर्तृत्व और शरीर मे "व्याप्तिरूप" असाधारण सम्बन्ध भी नही है इसलिए जगत्कर्त्ता ईश्वर को शरीर रहित ही मानना चाहिए ।

जीवधारी ईश्वर की तुलना में असमर्थ है जैसे कुम्भकार प्रयत्न के द्वारा घटादि कार्यों को सम्पादित करता है उस प्रकार का शारीरिक प्रयत्न ईश्वर से अपेक्षित नही है[31] क्योंकि सर्वसामर्थ्यवान् ईश्वर प्रयत्नमात्र से ही समस्त कार्यों को सम्पादित कर सकता है।

---

30. न्याय सिद्धान्त मुक्तावली-विश्वनाथ, पृ014
31. विद्वन्मण्डनम्, पृ0 262 द्रष्टव्य

विट्ठल नैयायिको की विचारधारा को दूषित बताते है वे कहते हैं कि जैसे ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न की व्याप्ति कर्तृत्व के साथ आप स्वीकार करते हैं इसी प्रकार शरीर की भी कर्तृत्व के साथ "व्याप्ति" स्वीकार करना चाहिए क्योंकि कोई कर्त्ता शरीर-रहित नही दिखायी देता है। " यद्यपि सभी लौकिक कर्त्ताओं के शरीर परिच्छिन्न ही देखे जाते है किन्तु जैसे लौकिक ज्ञान इच्छा प्रयत्नों के अनित्य होते हुए भी ईश्वर के ज्ञान, इच्छा प्रयत्नो को नित्य मानते हो, ऐसे ही उसके शरीर का स्वरूप भी वैसा मानो जैसे की इस विशाल सृष्टि रचना मे अपेक्षा है। [32]

विट्ठल कहते हैं कि यह कोई आवश्यक नही है कि रूप तथा महत्परिमाणवाली वस्तु का प्रत्यक्ष हो ही क्योंकि इन्द्रादि समस्त देवता शरीरवान है किन्तु किसी का भी प्रत्यक्ष नही होता । [33] जब देवताओं का ही प्रत्यक्ष नहीं होता तो जो देवाधिदेव परब्रह्म है उसका प्रत्यक्ष किस प्रकार हो सकता है ? किन्तु शास्त्रोक्त-साधनो के अनुष्ठान से प्रसन्न होकर ईश्वर उस भक्त को अपना दर्शन देकर अनुगृहीत करता है, पर यह दर्शन लौकिक प्रत्यक्ष के अन्तर्गत नही है। ईश्वर अनुमान प्रमाण से भी शरीरवान् सिद्ध होता है।

इस वैविध्यपूर्ण जगत् का कर्त्ता एक ही ईश्वर है अनेक नही है। अनेक जीवों को जगत्कर्त्ता मानने पर लोक विरोध होगा अनेक जीव एकत्रित होकर भी पृथिवी, समुद्रादि जैसे विलक्षण पदार्थों की सृष्टि नही कर सकते ।

---

32. सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष -
पृ0 98 द्रष्टव्य ।

33. विद्वन्मण्डनम् - पृ0 267 द्रष्टव्य ।

यदि विलक्षण कर्तृत्व अनेक जीवो मे ही मानना है तो अनेको मे न मानकर एक ईश्वर मे ही स्वीकार करना श्रेयस्कर है। ईश्वर दयालु एवं न्यायशील है। यह प्रपञ्च ईश्वर की क्रीड़ा है, लीला ही उसका प्रयोजन है। "जगत्कर्त्ता रागी, कर्तृत्वात् कुलालवत्" इत्यादि अनुमान वाक्य से ईश्वर राग,द्वेषादि दोषो से युक्त नहीं माना जा सकता क्योकि " य सर्वज्ञ सर्वशक्ति " "सर्वत पाणिपादान्त" "निष्क्रियं निष्कलं शान्त निरवद्य" इत्यादि श्रुतियाँ ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, अप्राकृतशरीर तथा निर्दोष घोषित करती हैं। ईश्वर रागद्वेष से विमुक्त है।

ईश्वर की लीला का वर्णन करने के पश्चात् अब हम लीला-स्थानो का वर्णन करेंगे।

## लीला स्थानो का स्वरूप -

पूर्वपक्षी का यह कथन है कि गोकुल, गोवर्धनादि लीला स्थानो के नित्यत्व को प्रमाणित किए बिना लीला को नित्य नहीं माना जा सकता।

इसके उत्तर में विट्ठलनाथ कतिपय वैदिक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। ऋग्वेद मे कहा गया है कि - " हम वहाँ की वस्तुओं को प्राप्त करना चाहते हैं जहाँ बड़े-बड़े सींगवाली गाये रहती हैं और जो गोपियों के मनोरथों को पूर्ण करने वाले भगवान् विष्णु का परमपद, अपनी शोभा इस

समय भी यहाँ पृथिवी पर दिखा रहा है । [34]

" इस श्रुति मे जो गोकुल को व्यापक, विष्णु का परमपद और "अवभाति" इस वर्तमान कालिक क्रिया के द्वारा इस समय भी शोभा दिखा रहा है , यह क_ा, इसे गोकुल का नित्य होना स्पष्ट ही है।[35]

इसी तरह से कृष्ण यजुर्वेद की संहिता मे कहा गया है कि – "तद्विष्णो परम पद सदा पश्यन्ति सूरय , दिवीव चक्षुराततम्"

इन दोनो श्रुतियो से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर का लीला स्थान गोकुल नित्य है ।

पूर्वपक्षी यह प्रश्न करता है कि जिस नित्य लीला स्थान का वर्णन किया गया है वह कहाँ है ? यदि वह पृथ्वी पर है तो दृष्टिगत क्यो नही होता ?

विट्ठलनाथ इस आक्षेप का समाधान करने के लिए कृष्ण यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्र में वर्णित "दिवीव, चक्षुरिव तथा आततं चक्षुरिव" के तीन

---

34. ता वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्रगावोभूरिश्रृगा अयास ।
    अत्राह तदुरूगायस्य वृष्णः परम पदमवभाति भूरि ।।
    – ऋक्संहिता

35. सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष
    पृ० 108 द्रष्टव्य

दृष्टान्तो को प्रस्तुत करते हैं । प्रथम दृष्टान्त " दिवीव" से यह सिद्ध होता है कि स्वर्ग में जैसा आनन्द है वैसा ही यह गोकुल भी सुखमय अथवा आनन्दमय है।

द्वितीय दृष्टान्त "चक्षुरिव " का अर्थ है कि जैसे दिव्य ज्ञान से सम्पन्न चक्षुरिन्द्रिय योगियो को ही दिखायी देता है, और जिस स्थान पर रहता है उसकी संज्ञा "चक्षु" अथवा " नेत्र" हो जाती है उसी प्रकार गोकुल भी भगवान् के सिवाय अन्य किसी को नही दिखता और जिस भूस्थान पर रहता है उसको अपने नाम से विख्यात कर देता है ।[36]

तृतीय दृष्टान्त " आततं चक्षुरिव" से यह स्पष्ट होता है कि जैसे चक्षुरिन्द्रिय प्रकाशस्वरूप है किन्तु उसमे तेज के गुण प्रकट रूप मे नहीं होते इसी कारण अन्धकार चक्षुरिन्द्रिय प्रकाशित होकर अपने रूप को प्रदर्शित नही करती है उसी प्रकार नित्य लीलास्थल गोकुल भी अलौकिक तथा आनन्दमय है किन्तु भगवान् की इच्छा के कारण उसका यह गुण अपकटावस्था मे रहता है । इस प्रकार इन तीनो दृष्टान्तों से यह सिद्ध होता है कि नित्य लीला स्थान गोकुल है किन्तु द्रष्टाओ को अपने इन्द्रिय दोष के कारण उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता ।

ज्ञान हीन साधकों को गोकुल मे अन्यथा ज्ञान की प्रतीति होती है । नित्य लीला स्थान के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान न होने में ईश्वर

---

36. (क) विद्वन्मण्डनम् - पृ0 299, 300 द्रष्टव्य ।
(ख) हरितोषिणी - पृ0 299 द्रष्टव्य ।

की इच्छा ही कारण है। श्रीमद्भागवत पुराण मे कहा गया है कि " क्षुधार्ता इदमब्रुवन् " " त्रातुमर्हसि देवान्नः कुपितादभक्तवत्सले " । इन कथनो से यह सिद्ध होता है कि नित्यलीला स्थान में रहने वालों मे भी भगवान् की इच्छा से दु.ख, क्रोध, घृणा ,भयादि विपरीत धर्मो की उत्पत्ति होती है ।

लीला स्थानो की व्यापकता -

विट्ठल लीला स्थानो की नित्यता प्रमाणित करने के उपरान्त उनकी व्यापकता एव सत्यता प्रमाणित करने का प्रयास करते हैं । सृष्टि के अन्तकाल में गोकुलादि लीला स्थान नष्ट नहीं हो जाते , यद्यपि कि गोकुल परिच्छिन्न नही है और न ही उसका आधार पृथ्वी है तथापि जैसे व्यापक आत्मा का आश्रय शरीर मान लिया जाता है, किन्तु शरीर नष्ट होने पर भी आत्मा की सत्ता रहती है उसी प्रकार गोकुल का आधार पृथ्वी है किन्तु प्रलयकाल में पृथ्वी के विनष्ट हो जाने पर भी गोकुल की सत्ता रहती है।

गोकुल की व्यापकता " ता वा - वास्तून्युश्मसि गमध्यै . . " इस ऋग्वेद मन्त्र में स्थित" भूरि" पद से सिद्ध हो जाती है । "व्यापिवैकुण्ठसंज्ञित"[37] इस श्रुति से भी गोकुल की नित्यता तथा व्यापकता सिद्ध होती है अत: जब ब्रह्मलीला स्थान गोकुल श्रुतियो के द्वारा नित्य कहा जाता है तो इस

---

37. बृहद्वामन पुराण

सन्दर्भ में शंका का कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।

गोकुल की नित्यता के सन्दर्भ मे छादोग्य उपनिषद् के "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे, दहर पुण्डरीक वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् ..." श्रुति का उपन्यास विट्ठल ने किया है। इस " दहराधिकरण" की श्रुति मे " पुर" शब्द का अर्थ " शरीर" माना जाता है। " ब्रह्मपुरे जीर्णे ध्वस्ते वा" इति प्रश्ने " नास्य जरयैतज्जीर्यते न बधेनास्य हन्यते . . ... " (छादोग्योपनिषद्) अर्थात् ब्रह्मपुर के नष्ट हो जाने पर क्या शेष रहता है इसके उत्तर मे कहते हैं कि ब्रह्मपुर के नाश से उसके भीतर रहने वाला "वेश्य" नष्ट नहीं होता । अत इस श्रुति के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रलय के समय पृथ्वी के नष्ट हो जाने पर भी गोकुल की सत्ता बनी रहती है। गोकुल नित्य है।[38]

+ विट्ठलनाथ कहते हैं कि उनके विचार से " दहराधिकरण" की श्रुति में वर्णित "ब्रह्मपुरे" का तात्पर्य भगवान् के लीला-स्थान श्रीगोकुल मथुरादि हैं, ब्रह्मपुर" शब्द शरीरार्थक नही है क्योकि यह अर्थ मानने पर " नास्य जरयतज्जीर्यति ..... " श्रुति

---

38. 'The Ch.Up. Text is explained by the author as referring to Gokula, the place of the sport of the Lord; It is implied that this Gokula is eternal.' - The Philosophy of Vallabhacharya

- Mridula Marfatia
Page, 279

में आगे आने वाले "एतत्सत्य ब्रह्मपुरम् " अर्थात् " ब्रह्मपुर सत्य है " मे मिथ्यात्व की प्रसक्ति होगी ।[39] अत ब्रह्मपुर का अर्थ " शरीर " अर्थात् अनित्य वस्तु नही हैं ।

विट्ठल कहते हैं कि श्रुति मे वर्णित "एतत्सत्यं ब्रह्मपुरम् " का तात्पर्य प्रपञ्च भी नही है क्योंकि यही श्रुति अपने अग्रिम पदो में कहती है कि " ब्रह्मपुर मे नित्य लीला मे प्रवेश कर गये भक्तोके लिए आनन्द भोग के साधन उपलब्ध हैं । आनन्द की उपलब्धि किसी प्रापञ्चिक वस्तु के द्वारा संभव नही है ।

शुद्धाद्वैतियो की यह धारणा आश्चर्यजनक है निर्विशेष श्रुतियो के सन्दर्भ मे वे समस्त आनुभविक गुणो का ब्रह्म मे निषेध करते हैं किन्तु लीला-प्रकरण मे वे " सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणेति " इस आनन्दमयाधिकरण में आयी हुई श्रुति के आधार पर "काम" शब्द का अर्थ "आनन्द भोग "कहते हैं ।[40] ईश्वर को शुद्धाद्वैती एक ओर तो निराकार एव विग्रहहीन मानते हैं दूसरी ओर अवतार-प्रकरण मे ईश्वर को विग्रहवान् बताया गया है।

विट्ठल कहते हैं कि लीला सम्बन्धी कोई भी पदार्थ प्रापञ्चिक अथवा जड़ नही है। " दहर उत्तरेभ्यः अधिकरण मे वेदव्यास ने "दहर शब्द का अर्थ परमात्मा किया है।

---

39. विद्वन्मण्डनम् -पृ0 307 विस्तृत रूप से द्रष्टव्य ।
40. The Philosophy of Vallabhcarya - Marfatia Page 279

विट्ठलनाथ ने "विद्वन्मण्डनम्" मे लीला स्थानो की नित्यता प्रदर्शित करने हेतु "बृहद्वामनपुराण" के ब्रह्म-भृगु सवाद" मे श्रुतियों की एक कथा का उल्लेख किया है -

"षष्टि वर्षसहस्राणि मया तप्तं तप. पुरा ।
नन्द गोपब्रजस्त्रीणां पादरेणूपलब्धये ।।
इसके अतिरिक्त -
" ब्रह्मेति पठ्यतेऽस्माभिर्यद्रूप निर्गुण परम् ।
वाङ् मनो-गोचरातीतं ततो न ज्ञायते तु तत् ।।
आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविद ।
तन्द्रूप दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि न· ।।[41]

श्रुतियाँ ईश्वर से प्रार्थना करती हैं कि हे भगवान् । यदि आप हमें दर्शन दें तो अपने उस रूप को प्रदर्शित करे जिसे निर्गुण ब्रह्म कहते हैं तथा जिसे केवल आनन्दमय कहते है । श्रुतियो की इस प्रार्थना को सुनकर ईश्वर ने वृन्दावन, गोवर्धन तथा यमुना आदि नित्य लीला स्वरूप तथा स्थान दिखाया । "यदि नित्य लीला- परिकर ब्रह्मस्वरूप के अन्तर्गत न होता तो ब्रह्म-दर्शन को इच्छा से प्रार्थना करने पर श्रुतियो को इस नित्य लीला परिकर के दर्शन भगवान् न कराते ।"[42]

---

41. विद्वन्मण्डनम् मे संकलित - पृ0 309 से 311 तक
द्रष्टव्य ।

42. सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष -
पृ0 113

लीला स्थान तथा लीलाप्रविष्ट भक्त ब्रह्मात्मक है -

विट्ठलनाथ कहते हैं कि यद्यपि कि लोक में प्रत्यक्ष पमाण के द्वारा आधार तथा आधेय भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं किन्तु नित्य लीलास्थान गोकुल, वृन्दावन तथा भगवत्स्वरूप का भेद अथवा अभेद किसी की प्रमाण से ज्ञात नही होता । अत दहर श्रुतियो तथा वृहद्वामनपुराण के साक्ष्यो के आधार पर भगवान् और उसके आधार मे जो अभेद की प्रतीति होती है वह सत्य है। विट्ठल कहते हैं कि भगवान् के उपास्य स्वरूपो का अभेद जैसे नित्य लीला स्थानो से है उसी प्रकार का अभेद ब्रह्म की लीला मे प्रविष्ट भक्तो के साथ मे भी है। "यदक्षरे परमे प्रजा" {तैत्तिरीयोपनिषद} अर्थात् अक्षर ब्रह्मात्मक नित्य लीला स्थानमे ब्रह्म जनस्वरूप है। भगवत्स्वरूपो तथा लीलाधिष्ठानो के मध्य जो भेद एव अभेद, वृक्षफलादिवत् है अर्थात् स्वगत भेद है वह स्वीकार्य है । [43] "एकमेवाद्वितीयम् " श्रुति ब्रह्म में भेद का विरोध करती है किन्तु वृक्ष उसकी शाखा, फल, पत्ते जैसे भेद का निषेध नही करती है क्योकि इस प्रकार का भेद-अभेद परक है अतएव लीलाधिकरण एव उपास्यस्वरूपों के मध्य इसी प्रकार का भेद एवं अभेद माना जाता है।

विट्ठल कहते हैं कि जहाँ तक गोकुल, मथुरा, वृन्दावन की नित्यता की बात है तो वह निर्विवाद सत्य है किन्तु मिथिला कुरूक्षेत्र इत्यादि स्थानो पर श्रीकृष्ण कुछ समय के लिये रहे , क्या इन स्थानो के

---

43. सुवर्णसूत्रम् , पृ0 312 द्रष्टव्य ।

लिए शास्त्रो में, किसी प्रकार के महत्ता-सूचक वर्णन की प्राप्ति नहीं होती । इसलिए इन स्थानों को नित्य नही माना जा सकता ।

जिस समय लीला होती है, वह काल भी नित्य माना जाता है -

श्रीकृष्णादि अवतारो की जो रसात्मक लीला गोकुलादि नित्य लीला स्थलो पर होती है, उससे सम्बन्धित काल भी नित्य माना जाता है अर्थात् लीला का उद्दीपक काल भी नित्य है। विट्ठलनाथ ने " लीला" के सन्दर्भ मे अपनी विचारधारा " भागवतपुराण" के आधार पर ही निर्धारित की है।

ब्रजकन्याओ को वरदान देते समय लीला सम्बन्धी रात्रियों को भगवान् ने "मयेमा रस्यथ क्षपा : " {भागवत पुराण, दशम स्कन्ध} इस प्रामाण्य वचन के आधार पर "वर्तमान" कहा । उन्होंने वर्तमान सूचक पद " इमा" का प्रयोग किया। इन रात्रियों का वर्तमानत्व तभी सभव है जब इन्हे नित्य स्वीकार किया जाये ।

पूर्वपक्षी की शका "इदम्" पद "बुद्धिस्थ वस्तु " का वाचक हैं, का निवारण करते हुए विट्ठल कहते हैं कि "इमा" पद का बुद्धिस्थ वस्तु वाचक होना तभी सत्य माना जा सकता है जबकि मयेमा रस्यथक्षपा: यह वाक्य ईश्वरीय न होकर किसी साधारण जीवधारी का हो । ईश्वर को हम नित्य

मानते हैं और उसके वचन भी " सत्य" निष्ठा पर आधारित होते हैं ।

अत लीला और तत्सम्बन्धी काल नित्य माने जाते हैं किन्तु "एष्यामि ते गृहं सुभ्रू " §भागवतपुराण § में आये हुए " भविष्यवाची पद "एष्यामि" से भ्रमित नही होना चाहिए । इस पद के प्रयोग का विशेष प्रयोजन है। यह पद आविर्भाव क्रम का द्योतक है । [44] जिए लोला एवं काल का आविर्भाव बाद में होने वाला है उसको सूचित करने हेतु " अग्रिम सूचक " पद "एष्यामि"का प्रयोग किया गया है । विट्ठल का यह विचार है कि किसी भी " लीला" की अनुभति भगवान् के समस्त भक्तो को एक साथ नही होती, भिन्न-भिन्न भक्तों को पृथक्-पृथक् समय में लीलानुभूति होती है, इसीलिए लीला-आविर्भाव को क्रमिक माना गया है ।

विट्ठल कहते हैं कि पूर्वपक्षी की यह धारणा भी उचित नहीं है कि "एष्यामि ते गृह सुभ्रू" § मैं तेरे घर आऊँगा § यह वचन मिथ्या है, क्योकि इससे कार्य वर्तमान काल में हो नही सकता और यदि भविष्य में होगा तो लीला कार्य हो नहीं रहा है यह मानना चाहिए ।

पूर्वपक्ष की उपर्युक्त धारणा नितान्त विद्वेषपरक है, रसो वै स. §तैत्तिरीयोपनिषद् § श्रुति से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर और उनकी लीला रसात्मक है। " रस शास्त्र की यह मान्यता है कि रस की सिद्धि

---

तभी होती है जब विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव एकत्रित हो जाये ।[45] भगवान् रस का अजस्र स्रोत है, उनका रसरूपत्व भी नित्य है। अतएव "एष्यामि ..... इन वाक्यो का इतना ही उपयोग है कि वह ब्रज भक्तो के मन में तत्सम्बन्धी विभाव, अनुभाव तथा सचारी भाव उत्पन्न करके उनके भावो को रसात्मक लीला के रूप मे परिवर्तित करना है ।

ईश्वर एक है तथा रस से सम्बन्धित सामग्री भी भगवद्रूप होने के कारण रस रूप है। भगवान् विरूद्धधर्माश्रयी है जैसे उनके परस्पर विरोधी धर्म उनकी नित्यता मे बाधक नहीं बनते उसी प्रकार उनकी लीलाओ मे भविष्यत्व-नित्यत्व आदि धर्म बाधक नही बनते हैं ।

श्री विट्ठल ने " लीला" की नित्यता केवल श्रुति प्रमाणों से ही नही सिद्ध की है अपितु युक्ति से भी उसकी सत्यता प्रतिपादित की है। वे कहते हैं कि लीला के कृय से आविर्भूत होने के कारण जन्य अथवा अनित्य नही माना जा सकता । लीलाऽऽविर्भाव को प्रापञ्चिक पदार्थों के आविर्भाव के तुल्य नही माना जा सकता जैसे लोक मे घटादि के निर्माता कुम्भकार के प्रयत्न को अनित्य मानते है [46] किन्तु ईश्वर के सृष्टि कर्तृत्व को नित्य मानते हैं उसी प्रकार ईश्वर की लीला को भी नित्य मानना चाहिए ।

---

45. विभावानुभावसचारि भावविशिष्टसयोगविप्रलम्भादिततत्द्भेदविशिष्ट सर्वरसरूपत्वमित्यर्थ ।"
    — हरितोषिणी, पृ0 318

46. हरितोषिणी, पृ0 326, 327 द्रष्टव्य ।

पूर्वपक्षी नैयायिक ने यह आक्षेप किया है कि यदि लीला नित्य है तो प्रात काल की लीला सायकाल मे, बाल्यकाल की लीला पौगण्ड मे क्यो नही रहती है ?

इसके प्रत्युत्तर मे विट्ठल कहते हैं कि यह सत्य है कि बाद की लीला के समय पूर्व की लीला विद्यमान नही रहती फिर भी जब शास्त्र अनेकशः वचन लीला की नित्यता के सन्दर्भ मे कह रहे हैं तो उनके कथन की सत्यता से इनकार क्यो किया जाये । शास्त्र निरर्थ वचन कदापि नहीं कहते अतः यह माना जा सकता है बाद की लीला के समय पूर्व की लीला विद्यमान रहती है किन्तु भक्तो को उस समय उसकी अनुभूति नही होती ।

विट्ठल कहते हैं कि लीला क्रिया स्वरूपा है किन्तु उसका अस्तित्व मात्र तीन क्षण [47] का मानना उचित नही है क्योकि ज्ञान भी त्रिक्षण स्थायी " होता है किन्तु ईश्वरीय ज्ञान को नित्य तुम्हारे भी मत मे माना जाता है और हम भी मानते है , इसी आधार पर लीला भी नित्य हुइ ।

ईश्वर की नित्य लीला के अधिकारी आधुनिक भक्त भी हैं -

ईश्वर की लीला, लीला-स्थान तथा लीला-काल नित्य माने जाते हैं ऐसा सिद्ध किया जा चुका है। अब विट्ठलेश्वर यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि नित्य लीला मे प्रविष्ट होने की इच्छा रखने वाले आधुनिक

47. नैयायिक यह मानते हैं कि क्रिया की सत्ता तीन क्षण की होती है - उत्पत्ति, अनुभूति एव विनाश ।

साधन सम्पन्न भक्त का भी प्रवेश हो सकता कि किन्तु उनके प्रवेश से उनके साथ होने वाली लीला अनित्य नही प्रमाणित होगी । बृहद्-वामन पुराण मे कहा गया है कि " जो स्त्री या पुरूष भर्तृभाव रखकर ईश्वर का भजन करता है वह नित्य लीला को प्राप्त करता है ।"[48] उपर्युक्त कथन से यह पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि लीला उन समस्त व्यक्तियो को लाभान्वित करती है जो भर्तृभाव पूर्वक ईश्वर भक्ति करते हैं । नित्य लीला मे प्रवेश सभी का होता है अत· प्रमाणैकगम्य होने के कारण उसे अनित्य नही माना जा सकता । विट्ठल कहते हैं कि जैसे नैयायिक घट, पटादि सावयव पदार्थों को अनित्य मानते हैं किन्तु ईश्वर के ज्ञान को नित्य मानते हैं, इसके नित्यत्व के पक्ष मे कर्तृत्व साधक अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करते हैं उसी प्रकार "जयति-जननिवास" इत्यादि श्रुतिप्रमाण के आधार पर आधुनिक भक्तों के नित्य लीला प्रवेश को सत्य मानना चाहिए। जिस प्रकार अद्वैतवेदान्ती यहमानते हैं महावाक्यों के ज्ञान से उद्बोधित साधक को नित्य सिद्ध मोक्ष की प्राप्ति होती है वैसे ही सदा विद्यमान रहने वाली लीला ईश्वर के अनुग्रह से भगवद्भक्तों को उपलब्ध होती है।

लीला प्राप्ति का हेतु -

तुच्छ जीव का व्यापक ईश्वर की लीला मे प्रवेश कैसे सभव है ? लोकानुभव के अनुसार क्रीडा कार्य प्रायः समान स्तर वालों में ही सभव है,

---

48. स्त्रियो वा पुरूषो वापि भर्तृभावेन केशवम् ।
हृदि कृत्वा गतिं यान्ति श्रुतीनां नात्र संशयः ।।
– बृहद् वामन पुराण "

जैसे नगर के बाहर रहने वाली किसी अधम कुल की नारी किसी राजा के महल मे प्रवेश करके विहार सुख की अनुभूति नही कर सकती उसी प्रकार जीव का प्रवेश परब्रह्म की नित्य लीला मे नही हो सकता ।[49]

इसके उत्तर मे विट्ठल कहते हैं भगवान् का अनुग्रह जिस पर हो जाये, वह चाहे उच्चकोटि का हो अथवा निम्न कोटि का उसे नित्य लीला मे प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे "पुष्टि भक्ति " की अवधारणा इसी तथ्य को उदघाटित करती है, अत. नित्य लीला मे प्रवेश उसी को प्राप्त हो सकता है जिस पर भगवदनुग्रह हो ।

यदि "मर्यादा दृष्टि" से विचार किया जाये तो गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा है - ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्" अर्थात् सर्वात्म भाव से भक्ति करने वालो को नित्य लीला मे प्रवेश प्राप्त होता है ।

आधुनिक भक्तो को ईश्वरीय लीला मे प्रवेश मिल सकता है इसे सिद्ध करने के लिए विट्ठल ऋग्वेद के एक मन्त्र को प्रस्तुत करते हैं -

"विचक्रमे पृथिवीमेष एता क्षेत्राय विष्णुर्मनुषे दशस्यन् ।
ध्रुवासो अस्य कीरयो जनास उरुक्षिति सुजनिमा चकारेति" ।"

---

49. विद्वन्मण्डनम्, पृ0 323 द्रष्टव्य

इस मन्त्र में " ध्रुवास " पद से भक्तो को नित्य कहा गया है । " इससे भी यह निश्चित होता है कि आधुनिक भक्त लीला मे प्रविष्ट हो सकते हैं क्योकि यदि जीवो को लक्ष्य कर भक्तो को नित्य कहा है, तो आत्माओ की नित्यता अनेक श्रुति सिद्ध है इसलिए वामनावतार मे वर्णन प्रसग मे यह नित्य कहना व्यर्थ है । यदि सशरीर भक्तो को नित्य कहा है तो यह बिना नित्य लीला के अन्यत्र सभव नही है । "[50]

लीला सम्बन्धी पदार्थों की अनुभूति भक्त तथा अभक्त सभी को होती है किन्तु जैसे स्वर्ग मे स्थित पदार्थ केवल स्वर्ग के निवासियो को ही दृष्टिगोचर होते हैं अन्यो को नहीं उसी प्रकार भक्तो को ही ईश्वर की अलौकिक लीला के दर्शन होते हैं अन्यों को नही ।[51]

## प्रभास क्षेत्र मे की गयी लीला-

प्रभास क्षेत्र से तात्पर्य है "द्वारका" से जहाँ पर श्रीकृष्ण ने अपनी अन्तिम लीला की थी ।

पूर्वपक्षी यह आक्षेप करता है कि यदि सभी लीलाये नित्य हैं तो द्वारका क्षेत्र मे भगवान् की शरीर-त्याग की लीला भी नित्य होगी।

इस पर विट्ठल कहते हैं कि ईश्वर का शरीर पचमहाभूतों से निर्मित नही है अपितु आनन्द उसका विग्रह है और वह सच्चिदानन्द

50. सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष, पृ0 118

51. हरितोषिणी पृ0 330

स्वरूप है। श्रीमद्भगवद्गीता मे ब्रह्म को " यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदम् रूप से उसे जगदाधार घोषित किया गया है इसके अतिरिक्त बाल्यकाल मे "मृत्स्वाभक्षण" लीला के प्रसग मे अपने मुख में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को दिखाकर उन्होनें अपने को जगदाधार सिद्ध किया है।

श्री कृष्ण ने "दामोदर लीला" के प्रसग मे बन्धन रज्जु की कमी दिखाकर यह प्रमाणित किया कि उनका परिणाम अपरिच्छिन्न है। अपरिच्छिन्नता ही ब्रह्मधर्म है जिसका परिमाण ही ब्रह्मात्मक है तो ऐसे शरीर का त्याग कदापि नही हो सकता, अत. प्रभासीय लीला मे श्री कृष्ण ने शरीर त्याग किया यह कहना अनौचित्य पूर्ण है।

भागवत पुराण की उक्ति – " योगधारणयाऽऽग्नेय्याऽदग्ध्वा ." का तात्पर्य श्री कृष्ण के शरीर का अग्नि मे दग्ध होना नहीं है अपितु श्रीधर स्वामी ने "अदग्ध्वा" का विश्लेषण करते हुए " श्री कृष्ण अपने स्वरूप से नित्य लीला धाम आये थे " ऐसा अर्थ किया है, अतः श्रीकृष्ण के शरीर त्याग की बात मिथ्या है।

पूर्वपक्षी ने भागवत के प्रथम स्कन्ध की अर्जुन की उक्ति को प्रस्तुत करते हुए कहा कि "ययाऽहरद्भुवो भारं ता तनु विजहावज. " अर्थात् जिसने भूभार हरण किया था उस शरीर का ईश्वर ने त्याग किया" इस कथन से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि श्रीकृष्ण ने देहत्याग किया । इसके उत्तर में

विट्ठल कहते हैं कि ब्रह्म पुराण मे श्रीकृष्ण को निर्दोष स्वरूप कहकर अज्ञत्व, पराधीनता, वेदविरूद्धाचरण लौकिकदेह शरीरत्याग आदि धर्मों को मायिक कहा है।[52] जैसे श्रीकृष्ण ने जन्म के समय "प्राकृत शिशु " बनने का अभिनय किया वैसे ही प्रभास क्षेत्र मे योगाग्नि के द्वारा शरीर त्याग करने का नाट्याभिनय किया, अत जैसे नाटक मिथ्या होता है वह देखने वाले के बुद्धि एव चक्षु को आवृत करता है वैसे ही श्रीकृष्ण ने देहत्याग का मात्र अभिनय किया वस्तुत उनका लीला विग्रह नित्य है ।

अपनी शंका पुन॰ उठाते हुए पूर्वपक्षी का यह कथन है कि "ब्रह्मपुराण " के कथन से मात्र इतना सिद्ध होता है कि "देहत्याग की लीला मायिक है किन्तु भगवान् ने यादव कुल का सहार किया इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म लीला मे प्रविष्ट उनके भक्तो अर्थात् यादवों का नाश हुआ । अत॰ लीला की नित्यता पर पुन॰ प्रश्न चिन्ह लग गया ।

इसके उत्तर मे" भागवत पुराण " की शुकाचार्य की यह उक्ति दी जा सकती है - "राजन् परस्य तनुभृज्जनन[illegible] ... .. "
अर्थात् हे राजन् यादवो की उत्पत्ति एव विनाश केवल भगवान् की माया है, जैसे किसी नट की माया । अतः यहाँ पूर्णतया स्पष्ट है कि यादवों की

---

52 अज्ञत्व पारवश्य च विधिभेदादिक तथा ।
तथा प्राकृत-देहत्वं देहत्यागादिक तथा ।
असुराणां विमोहाय दोषा विष्णोर्नहि क्वचित् ।

— ब्रह्मपुराण

उत्पत्ति और विनाश दोनो ही मायिक है।

यादवों को भागवत पुराण मे श्रीकृष्ण भक्त एव वृद्धसेवी कहा गया है। अत यहाँ यह ध्यातव्य है कि नित्य लीला स्थान से सम्बन्धित जो यादव कुल है वह वास्तविक यादव हैं किन्तु भागवत के तृतीय स्कन्ध मे उद्धव ने कहा है कि –

दुर्भगो बत लोकोऽय यदवो नितरामपि ।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम् ।।"

अर्थात् यह लोग अत्यन्त अविवेकी हैं और विशेष रूप से यादव जिन्होंने अपने साथ रहने वाले हरि को उसी प्रकार नहीं समझा जिस प्रकार सागरवासी मत्स्य प्रतिबिम्ब के रूप से सागर मे रहते हुए चन्द्रमा को नहीं समझते ।

यहाँ पर जिन्हे उद्धत, अविवेकी यादव बताया गया है "वह सत्य लीला सम्बन्धी यादव कुल मे भूतावेश न्याय से आविष्ट हुआ मायिक कुल है और प्रभास मे भी यही नष्ट हुआ था। [53] आचार्य वल्लभ ने भी तत्वदीप निबन्ध मे ईश्वर के शरीर त्याग के समान यादवो के शरीर त्याग को भी नाट्याभिनय ही बताया है।

---

53. सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष

" शरीर त्याग " की लीला नाट्य की पूर्णता के लिए

" यादवो के देहत्याग के बाद उनकी पत्नियो ने भी अपने पतियो के शरीर के साथ अग्नि मे दग्ध हो गयी । लीला अभिनय की पूर्णता के लिए ऐसा करना उचित ही है।

पूर्वपक्षी का कथन है कि सिद्धान्ती ने " भागवतपुराण का आश्रय लेकर बल पूर्वक प्रभासीय लीला को मायिक सिद्ध करने का प्रयास किया है यदि इसे मायिक ही सिद्ध करना था तब भागवत मे शुकाचार्य ने स्पष्ट ही क्यो नही कह दिया ?

इसके उत्तर मे विट्ठल कहते हैं कि जब भगवान् स्वय ही अपने स्वरूप को सर्वसाधारणके सम्मुख आवृत रखना चाहते हैं और प्रभासीय लीला के समान नाट्याभिनय करने को इच्छुक है तब उनके अभिप्राय को समझने वाले शुकाचार्य जैसे विद्वान् इसको स्पष्ट रूप मे कैसे कह सकते हैं । लीला को मायिक प्रमाणित करने के लिए "भागवत" मे अनेकानेक स्थलों पर संकेत दिया गया है जैसे दशमस्कन्ध के आरम्भ मे कहा गया है कि -

" अन्तर्बहि. पूरूषकालरूपै, प्रयच्छतो

मृत्युमुताममृतं च । "

इसका तात्पर्य यह है कि काल रूप से भगवान् ससार देते हैं और पुरूष रूप से मोक्ष देते हैं अर्थात् काल रूपी लीला ससार प्रदानकरने वाली है और पुरूषरूपकी लीला मोक्ष देने वाली है ।

यहाँ पर लीला को मायिक कहने का तात्पर्य हैकि जो नहीं है उसकी प्रतीति कराना यथा कृष्ण पूर्ण पुरूषोत्तम हैं किन्तु उन्होंने "प्राकृत शिशु रूप की लीला की। उनका " शिशुत्व " उनके पूर्ण पुरूषोत्तम रूप को किञ्चित् काल पर्यन्त आवृत कर लेता है। यहाँ पर "मायिक " शब्द का अर्थ शंकराचार्य की तरह नही अभिप्रेत है।

इस प्रकार श्रीविट्ठलेश्वर ने विस्तृत रूप से ब्रह्म की "लीला" का विवेचन विद्वन्मण्डनम् मे किया है।

संक्षेप मे उनकी लीला सम्बन्धी विचारो का सकलन इस प्रकार किया जा सकता है -

ब्रह्म की लीला नित्य है। श्रीकृष्ण पूर्ण परब्रह्म है लीला की वास्तविकता से श्रीकृष्ण के ज्ञानैकघनत्व मे बाधा नही पहुँचती। वेदों मे भी ब्रह्म की नित्य लीला का वर्णन है।

श्री विट्ठल के अनुसार भगवान् के अवतार भी उतने ही सत्य है जितना कि ब्रह्म। अवतार अविद्या कल्पित नहीं है। जब। भगवान् सतोगुण का आश्रय लेकर प्रकटीभूत होते हैं तब वह "अंशावतार " कहलाते हैं तब वह ": सत्वादि का आश्रयनलेकर पूर्ण सच्चिदानन्द रूप मे प्रकट होते हैं तब "पूर्णावतार"कहलाते हैं।

ईश्वर सशरीर है किन्तु वह भगवदनुग्रह से ही दृश्य है। जिस तरह से ब्रह्म की लीला नित्य है उसी प्रकार लीला स्थान भी

नित्य हैं । गोकुलादि लीला स्थान नित्यहैं । लीला प्रविष्ट भक्त ब्रह्मात्मक हैं, जिस समय लीला होती है वह काल भा नित्य है।

विट्ठलेश्वर ने प्रभास क्षेत्र मे की गयी लीला को भी नित्य (मायिक) माना है । श्री कृष्ण ने देहत्याग का मात्र अभिनय किया वस्तुत उनका लीला विग्रह नित्य है

इस प्रकार श्री विट्ठल की लीला सम्बन्धी धारणा अत्यन्त उच्च कोटि की है ।

# षष्ठ अध्याय

## " शुद्धाद्वैत - सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण धारणाये "

समस्त दार्शनिक प्रस्थानो में एक परमवस्तु " की कल्पना की गयी , जिसके चतुर्दिश दर्शन जगत् की समस्त विचारणाये चक्कर काटती हैं। तत्व एक है किन्तु उसे ईश्वर , ब्रह्म , भगवान् के नामों से पुकारा जाता है। पूर्व के अध्यायो में उस परमतत्व एव उसके अश जीवात्मा का वर्णन किया जा चुका है, इस अध्याय मे दार्शनिक चिन्तन प्रक्रिया के उन प्रमुख बिन्दुओ पर विचार किया जा रहा है जो किसी भी सिद्धान्त के रूप निर्धारण के लिए विचारणीय है। यहाँ कतिपय ऐसे महत्वपूर्ण तत्वो पर विचार किया गया है जिनका विद्वन्मण्डनम् मे उल्लेख तो मिलता है किन्तु पर्याप्त विस्तार नहीं किया गया है। इस तथ्य की ओर अनेक बार संकेत किया जा चुका है कि विट्ठलाचार्य जी का उद्देश्य शुद्धाद्वैत की स्थापना न होकर उसका दृढ़ीकरण है इसलिए उन्होंने उन्हीं सिद्धान्तो का मण्डन-विश्लेषण किया है जो उनके पिता श्री वल्लभाचार्य जी की कृतियो मे दुर्बल रह गये हैं। इस अध्याय मे ऐसे सभी तत्वों का अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है जिनका विवेच्य कृति मे विशेषविस्तार न होने पर भी, जो आचार्य वल्लभ एव आचार्य विट्ठल के सिद्धान्तो की समझ के लिए आवश्यक हैं। अतएव क्रमानुसार उनका विवरण इस प्रकार है -

माया की धारणा -

सर्वप्रथम मायातत्व की विवेचना प्रस्तुत करते हैं - "माया" भारतीय दर्शन की एक प्रमुख धारणा है। माया की धारणा को, वेदान्तसूत्रो के आधार

पर अपने सिद्धान्तो को निरूपित करने वाले प्रत्येक दार्शनिक ने स्वीकार किया है। भारतीय दर्शन की अद्वैत धारा के अनुसार परम तत्व { ब्रह्म } जिस शक्ति के द्वारा सृष्टि रचता है वही माया है।[1] "माया" की धारणा अत्यन्त प्राचीन है ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि " इन्द्र अपनी माया के द्वारा अनेक रूपो को धारण करता है।"[2]

शंकराचार्य के अनुसार माया मिथ्या है, वह ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आवृत कर लेती है और उसमें जगदादि की उद्भावना कर देती है। शकर माया को अनिवर्चनीया मानते हैं उनके अनुसार वस्तु रूप से माया का कोई अस्तित्व ही नहीं है। वस्तु रूप से तो केवल ब्रह्म की ही सत्ता है। शकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित इन सिद्धान्तों का खण्डन परवर्ती समस्त वैष्णव वेदान्तियो ने किया है।

वल्लभाचार्य के अनुसार माया ईश्वर की शक्ति है, जिसके द्वारा सृष्टि मे आविर्भाव एव तिरोभाव सम्पादित होता है।[3]

---

1. श्रीमती आशा सिह, भारतीय आस्तिक दर्शन में माया तत्व" कोसल, जर्नल ऑफ दि इण्डियन रिसर्च सोसायटी ऑफ अवध,

2. इन्द्रोमायाभिः पुरुरूपईयते। " ऋग्वेद 6/48/18

3. According to Vallabha Maya is one of the powers of the Lord, with which He brings about the manifestation and concealment of the world.'

   - The Philosophy of Vallabhacarya
   - Marfatia, Page 58

तत्वदीप निबन्ध मे माया का वर्णन करते हुए आचार्य जी कहते हैं कि माया ब्रह्म की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्ति है, वह उसमे अभिन्न होकर उसी तरह स्थित रहती है, जिस तरह से पुरूष की कार्य करने की क्षमता उसमें निहित होती है ।[4]

माया ब्रह्म से अलग कोई तत्व नहीं है वरन् वह ब्रह्म के स्वरूप के अन्तर्गत ही है । "माया की सत्यता का अर्थ है माया की ब्रह्मात्मकता ।"[5]

माया ब्रह्म की शक्ति है -

ब्रह्म और माया के बीच अभेद सम्बन्ध होता है, क्योंकि माया को ब्रह्म की शक्ति माना गया है तो शक्ति और शक्तिमान् मे भेद नही होता, वह दोनो अभिन्न होते हैं । जिस प्रकार अग्नि की दाहकता को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार माया ब्रह्म की कृति-सामर्थ्य है जो कि उसमे निहित हैं, उसे ब्रह्म से पृथक् नहीं किया जा सकता ।

वल्लभाचार्य जी श्रीमद्‌भागवत पुराण की विचारधारा के अनन्य-पोषक थे, उनके अनुसार भागवत-पुराणमेपुरूषोत्तम श्री कृष्ण की बारह शक्तियाँ बतायी गयीं हैं - श्री पुष्टि , गिरा, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, उर्जा, विद्या और अविद्या, शक्ति और माया । यह शक्तियाँ

---

4. माया हि भगवत. शक्ति. सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता। यथा पुरूषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम् । "- तत्वदीपनिबन्ध का प्रकाश 1/27

5- आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन - डा० राजलक्ष्मी वर्मा, पृ० 141

ब्रह्म की उपाधि नहीं है और न असत्य हैं ।

श्री विट्ठलनाथ माया तथा ब्रह्म की अन्य शक्तियों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि -

" न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।।[6]

प्रस्तुत श्रुति मे आये हुए " परा" शब्द का अर्थ है कि ब्रह्म की इन विविध शक्तियों का स्वरूप मन तथा वाणी इत्यादि इन्द्रियो के द्वारा " इदमित्थम्" रूप से नहीं ज्ञात किया जा सकता। ये शक्तियाँ ब्रह्म से भिन्न नहीं अपितु ब्रह्मरूप ही हैं ब्रह्म की ये शक्तियाँ आगन्तुक नही है अपितु नित्य हैं। अतएव इनको अविद्या कल्पित मानना उचित नही नही है ।[7]

---

6. श्वेताश्वर उपनिषद् 6/8 द्रष्टव्य ।
7. क- वस्तुतस्तु ब्रह्मधर्मा. सर्वएवानागन्तुका एव, यतो नित्या·।
-विद्वन्मण्डनम्, पृ० 210 द्रष्टव्य

ख- परामनोवद[illegible] मित्थतया ज्ञातुमशक्या विविधा अनेकरूपा· शक्तयः । शक्तिस्वरूपविचारे ब्रह्मस्वरूपान्नातिरिच्यते इति ज्ञापनायैकवचनम् तेन अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्वमुक्तं भवति । सापि शक्ति स्वाभाविकी, नत्वागन्तुकी । .. .. एवं सति नित्य वस्तु सद्विद्यया कल्पितमिति वक्तु न शक्य - विरोधात् "
विद्वन्मण्डनम्, पृ० 211 द्रष्टव्य

इस प्रकार विट्ठलेश्वर ने माया के अविद्यकत्व का खण्डन किया है। माया ईश्वर की उपाधि नही है, बल्कि उसकी शक्ति है, और जैसा कि सर्वविदित है कि शक्ति शक्तिमान् के संकेतों पर ही चलती है, उसी तरह से माया ब्रह्म की इच्छा से ही नियमित एवं संचालित होती है । ब्रह्म अपनी इस शक्ति के द्वारा इस अचिन्त्यरचनात्मक जगत् की सृष्टि करता है।

श्रीमद्वल्लभाचार्य मायावादी शंकराचार्य के सिद्धान्तो के विरोधी थे । किन्तु उन्होंने अपने सिद्धान्तो के अनुकूल माया की प्रतिपादन तो किया किन्तु रामानुज की तरह वल्लभाचार्य ने माया का खण्डन योजनाबद्ध तरीके से नही किया है, जबकि विट्ठलेश्वर ने विस्तार से माया के स्वरूप का खण्डन किया है किन्तु यह खण्डन भी ब्रह्म एवं जीव के खण्डन के समान पृथक् रूप से नही है अपितु अन्यान्य सिद्धान्तों के बीच जहाँ कही अवकाश मिल गया वहीं माया का वर्णन कर दिया गया है।

सामान्यतया शंकराचार्य के पश्चात् होने वाले अनेकानेक वैष्णवाचार्यो ने उनके "माया" के सिद्धान्त का खण्डन किया है किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण खण्डन रामानुजाचार्य का था उन्होंने "माया की धारणा में सात अनुपपत्तियाँ बतायी – आश्रयानुपपत्ति, तिरो[illegible] स्वरूपानुपपत्ति, अनिवर्चनीयानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति, निवृत्यनुपपत्ति । वल्लभाचार्य ने भी शांकर माया का खण्डन तीन स्थलों

अर्थात् माया का अनादित्व, अनिर्वचनीयत्व तथा माया का आश्रय को लक्ष्य बनाकर किया है।

मायोपाधि के अनादित्व का खण्डन –

मायोपाधि के अनादित्व का खण्डन विट्ठलनाथ "ब्रह्म-विषयक" चर्चा के बीच मे किया है। ब्रह्म की उपाधि माया को अनादि मानने पर , ब्रह्म की अद्वितीयता प्रतिपादित करने वाली श्रुतियो का विरोध होता है । " सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, "एकमेवाद्वितीयम् " श्रुतियो मे परब्रह्म को ही एकमात्र सत् माना गया है । जबकि ब्रह्म की उपाधि अविद्या अनादि है ब्रह्म एवम् अविद्या दोनो के अनादि होने से ब्रह्म का एकत्व उपपन्न नही होगा । इसके अतिरिक्त ब्रह्म और उसकी उपाधि अविद्या को अनादि मानने पर निरन्तर सृष्टि होती हीरहेगी प्रलय कभी न होगा क्योकि मायावाद में कारणान्तर की अपेक्षा न रखते हुए इच्छा विशिष्ट उपाधि ग्रस्त ब्रह्म का ही कारणत्व अपेक्षित है। [8]

विट्ठलेश्वर कहते हैं कि यदि ब्रह्म की उपाधि माया को अनादि स्वीकार करेंगे तो ब्रह्म से उसका सम्बन्ध भी अनादि ही होगा, इसके अतिरिक्त अविद्या एव ब्रह्म सम्बन्ध ही जीवभाव में कारण है इस तरह से जीव भाव भी अनादि ही सिद्ध होगा । जब कि वास्तविकता यह है कि जीवभाव अनादि नही है। भागवत-पुराण के एकादश स्कन्ध में जो

---

8. विद्वन्मण्डनम्, पृ0 30 द्रष्टव्य

" बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादि. अर्थात् इस जीव का अविधा कृत बन्धन अनादि है, कहा गया है वह वस्तुत अनादि नही है तथापि बहुत प्राचीन है तथा घट-पटादि की अपेक्षा से अधिककाल तक रहने के कारण शास्त्र उसको अनादि कहते हैं ।[9]

इसी तरह से विभिन्न विषयो पर अपने विचारो को प्रस्तुत करते हुए विट्ठलनाथ ने यत्र तत्र अविद्या के अनादित्व का खण्डन प्रस्तुत किया है ।

माया एव ब्रह्म का सम्बन्ध -

श्री विट्ठलनाथ यह मानते है कि माया को उपाधि स्वरूपा मानने पर सबसे विकट समस्या यह उत्पन्न होती ह कि सत् ब्रह्म एवं असत् माया के बीच सम्बन्ध का स्वरूप क्या होगा ? दोनो के बीच सयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि दोनो ही व्यापक परिणाम वाले हैं सयोग सम्बन्ध विभु परिणाम वालो के मध्य नही हुआ करता । ब्रह्म एवं माया के बीच अध्यास सम्बन्ध भी नहीं हो सकता । दोनों में स्वरूप सम्बन्ध भी नही माना जा सकता, नही तो मुक्त-आत्माओ में भी अविद्या सम्बन्ध के विद्यमान रहने से उनका भी ससारित्व हो जायेगा।[10]

इन्हीं सब समस्याओं से बचने के लिए शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे ब्रह्म एव माया के बीच अभेद सम्बन्ध माना जाता ह। माया का अपना

---

9. विद्वन्मण्डनम् ,पृ0 68 द्रष्टव्य ।
10. विद्वन्मण्डनम् ,पृ0 67 द्रष्टव्य ।

कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है अपितु वह ब्रह्म रूप से सत्य है। यह ज्ञातव्य है कि इस सम्प्रदाय में माया को ब्रह्म की शक्ति माना गया है।

शंकराचार्य माया की परिभाषा "सदसदभ्यामनिर्वचनीयम् " करते हैं । विट्ठलेश्वर कहते हैं कि यदि इस अनिर्वचनीया माया के अस्तित्व को किसी तरह स्वीकार कर भी लिया जाये तो वह किसका आश्रय लेकर भ्रम उत्पन्न करेगी ? अविद्या जीवाश्रित तो हो नहीं सकती क्योंकि जीव अविद्या का ही कार्य है। स्वयप्रकाश तथा ज्ञानस्वरूप होने के कारण ब्रह्म माया का विरोधी है अतएव माया ब्रह्म मे तो कदापि नही रह सकती।[1] इस प्रकार निराश्रित अविद्या का अस्तित्व ही सभव नही हो सकेगा । शाकर मत मे अविद्या सम्बन्ध मात्र से ही जीव भाव होता है, अत शुद्ध ब्रह्म मे अविद्या सम्बन्ध होने ब्रह्म में भी जीवभाव की प्रसक्ति होगी न होने मे कोई हेतु भी नहीं है। यदि अविद्या एव ब्रह्म मे अनादि सम्बन्ध स्वीकार भी कर ले तो अविद्या ब्रह्म के एकाश मे रहता है अथवा सर्वांशों मे एकांश में तो मान नही सकते क्योंकि व्यापक अविद्या का निरवयव ब्रह्म के एकाश में सम्बन्ध होना नितान्त असंभव है, यदि सर्वांश में अविद्या रहती है तो सम्पूर्ण ब्रह्म जीव हो गया व्यावहारिक दशा में भी जीव एंव

---

1. ....... तथाहि अविद्या सम्बन्धाद्ब्रह्मणोऽनेकवदाभास. कस्येति विचारणीयम् । न तावद्ब्रह्मणः, तत्र भ्रमायोगात् । नापि जीवस्य, तादृशावभासानन्तरभावित्वात् ...... ।" विद्वन्मण्डनम् , पृ0 66

ब्रह्म का विभाग नहीं रह पायेगा । अत किसी भी अवस्था मे अविद्या ब्रह्म का सम्बन्ध होने पर ब्रह्म अविद्यागत दोषो से मुक्त न रह पायगा।[12]

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे माया द्विविध प्रकार की मानी गयी है- पथम है, इस सृष्टि की रचना मे साधनभूत, ब्रह्म की कार्य करने की क्षमता माया और दूसरी है व्यामोहिका माया । व्यामोहिका माया को अविद्या कहा जाता है । वल्लभाचार्य जी के अनुसार माया एव अविद्या दोनो ही ब्रह्म की शक्तियाँ है। ईश्वर की बारह शक्तियो मे माया एव अविद्या की भी गणना होती है -

"श्रिया पुष्ट्यागिरा कान्त्या तुष्ट्येलयोर्जया ।
विद्याऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम् ।।"[13]

जिस तरह से माया जगत् की करणभूत है उसी तरह से अविद्या ससार की करणभूत है। वल्लभाचार्य जगत् एव संसार को पृथक्-पृथक् स्वीकार करते हैं । जगत् सत्य है किन्तु ससार असत्य है।

वल्लभाचार्य जी ने तत्वदीपनिबन्ध में कहा है कि जीव ससार भूता अविद्या पाँच - पर्वों वाली है । यह पाँच पर्व क्रमश. अन्त करणाध्यास प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास, और स्वरूप विस्मरण है, इन पच पर्वों वाली अविद्या के पूर्ण होने पर जीव अन्य देहादिधर्मों से आबद्ध

---

12. विद्वन्मण्डनम्, पृ0 72 द्रष्टव्य ।
13. क- श्रीमद्भागवतपुराण - वेदव्यास
    ख- तत्वदीपनिबन्ध 1/27 पर प्रकाश

होकर ससारी बनता है । [14]

इस प्रकार विट्ठलेश्वर की माया विषयक धारणा का सक्षिप्त परिचय देने के पश्चात् अन्त में यही कह सकते हैं कि माया ब्रह्मकीकार्यकरणात्मिका शक्ति है, इसके द्वारा ही ब्रह्म का आविर्भाव एव तिरोभाव सम्पन्नहोता है, ब्रह्म की शक्ति होने के कारण माया सत् है, वह सृष्टि मे करणभूत है ।

विट्ठलनाथ की सृष्टि- विषयक मान्यता-

माया तत्व " पर विचार करने के उपरान्त शुद्धाद्वैत दर्शन की सृष्टि विषयक मान्यता पर विट्ठलेश्वर एव उनके पिता श्री वल्लभ के विचारों का समन्वित रूप प्रकट किया जायेगा।

वल्लभाचार्य के अनुसार इस सृष्टि का हेतु एव कर्त्ता ब्रह्म है, ब्रह्म सविशेष एवं सधर्मक है । श्रुतियाँ ब्रह्म के कर्तृत्व का प्रतिपादन करती है -" तदैक्षत, बहुस्याम, प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत (छान्दोग्य उपनिषद 6/2/3) " यतो वा इमानि (तैत्तिरीयोपनिषद् 3 / / 9) । ब्रह्म का कर्तृत्व स्वाभाविक एव सत्य है।

सर्वप्रथम हम ब्रह्म के कर्तृत्व के सम्बन्ध मे संक्षेप में विचार करेंगे, मायावादी मानते है कि यह जगत् मिथ्या है(

14. स्व[illegible]कं हि पर्व देहेन्द्रियासव ।
अन्त करणमेषा हि चतुर्द्धाऽध्यास उच्यते ।
पचपर्वा त्वविद्येय यद्बद्धोयाति ससृतिम् ।।

— तत्वदीपनिबन्ध , 1/36

है) यद्यपि कि इस मिथ्या जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण ब्रह्म है किन्तु "निष्क्रियं निष्कल शान्त निरवय निरञ्जनम्" अर्थात् ब्रह्म क्रिया अंश, दोष दु खादि से रहित है, इत्यादि से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म निरवयव है। अतएव अविद्यायुक्त ब्रह्म ही इस जगत् का कर्त्ता है।

विट्ठलेश्वर इसके उत्तर मे कहते हैं कि शुद्ध ब्रह्म से ही सृष्टि होती है। व्यास-सूत्रो में अनेकश जीव को ब्रह्मांश और जगत् को ब्रह्म का कार्य सिद्ध किया गया है। "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्" सूत्र का भाष्य करते हुए आचार्य जी कहते हैं कि - श्रुति कहती है कि ब्रह्म जगत् के रूप मे परिणत होता है, ऐसा इसलिए स्वीकार करना चाहिए क्योंकि ऐसा वेदों से प्रमाणित होता है।

सृष्टि का एकमात्र प्रयोजन लीला है। "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्" पर भाष्य करते हुए बल्लभाचार्य कहते हैं कि - जिस प्रकार ससार मे नृपादि मृगया करते हैं, कुछ अन्य कार्य भी करते हैं, किन्तु उनका प्रयोजन केवल लीला अर्थात् मनोरंजन ही होता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी लीला के लिए इस समस्त प्रपञ्च की सृष्टि करता है। ऐसा ईश्वर का स्वभाव ही है।

ब्रह्म न केवल सृष्टि का कर्त्ता है अपितु वह सृष्टि का हेतु भी है। वह न केवल साधारण हेतु है बल्कि उपादान एव निमित्त कारण भी है। बल्लभाचार्य जी कहते हैं कि - "इस जगत् का उपादान तथा निमित्त हेतु ब्रह्म है। जब वह स्वयं मे रमण करता है तब प्रपञ्च का सवरण अर्थात्

सकोच कर लेता है और जब प्रपच मे रमण करने की इच्छा होती है तब वह प्रप~च को विस्तृत कर लेता हे । यह प्रप~च ब्र ह्म से ही प्रकट होता है तथा उसमे ही लीन होता है ।[15]

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे " एतदात्म्यमिदं सर्वम् तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि"[16] इन अठारह अक्षरो को महावाक्य माना जाता है । विट्ठलनाथ यह मानते हैं कि एक विज्ञान से सर्वविज्ञान तभी सम्भव हैं जब ब्रह्म एव जगत् परस्पर भिन्न न हो अपितु दोनो के मध्य अभेद हो । इसलिए अभेद प्रतिपादित करने हेतु श्रुति "तत्वमसि" के पूर्व " सदेवसौम्येदमग्र आसीत्" के माध्यम से, ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है यह स्पष्ट किया गया है ।

अद्वैतवादी दार्शनिक "ऐतदात्म्य" पद का अर्थ ब्रह्मस्वरूप तथा "तत्सत्यम्" का अर्थ जगत् करना असगत मानते हैं । उनके अनुसार जड-जगत् कदापि सत्य नहीं हो सकते क्योंकि हम जड पदार्थों की उत्पत्ति एव विनाश के साक्षी हैं अतः इन्हें सत्य नही मान सकते ।

---

15- जगतः समवायित्वात् तदेव च निमित्तकम् ।
कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रप~चेऽपि क्वचित्सुखम् ।।

— तत्वदीपनिबन्ध 1/69

16- छांदोग्य उपनिषद् । "सब प्रत्यक्ष जड पदार्थ ब्रह्मस्वरूप है, यह जगत् सत्य है, वह ब्रह्म जड और जीवो का वास्तविक स्वरूप है, तू {आत्मा} ब्रह्म स्वरूप है "।

किन्तु शुद्धाद्वैती शाकर मतावलम्बियो के सिद्धान्त से सहमत नहीं हैं उनके
ानुसार समस्त जीव एव जड़ जगत् ब्रह्मात्मक ही हैं । [17]

अत जीव एवं जड़ जगत् के ब्रह्मात्मक होने के कारण उसे अनित्य एव
ासत्य नही माना जा सकता । वल्लभाचार्य शकर के मायावाद के सिद्धान्त के
बल विरोधी थे ।

शकराचार्य यह मानते हैं कि समस्त प्रपञ्च का हेतु अविद्या है, अविद्या
ी प्रमाण-प्रमेय व्यवहार तथा शास्त्रप्रवृत्ति का हेतु है । प्रपञ्च व्यावहारिक
तर पर ही सत्य है पारमार्थिक स्तर पर यह मिथ्या है । जिस प्रकार अंधकार
अनिश्चित स्वरूप वाली रज्जु मे सर्पादि विकल्प होते हैं उसी प्रकार
निश्चितस्वरूप ब्रह्म मे नामरूपात्मक जगत् की कल्पना होती है और स्वरूप
ंश्चय होने पर इन विकल्पो का बाध भी हो जाता है ।

वल्लभाचार्य ने शकराचार्य के मायावाद के सिद्धान्त का तीव्र विरोध
ंकया है । वे मानते हैं कि शुद्ध ब्रह्म ही सृष्टि का हेतु है । माया प्रपञ्च
ंर्माण मे कारण अवश्य बनती हैं किन्तु मात्र इसीलिए हम प्रपञ्च को मायिक
ही कह सकते, क्योकि माया ब्रह्म की अभिन्न शक्ति है । चूँकि शक्ति

---

7. -------Brahama is the one and only reality by the knowledge of which, everything else is known, since it is immanent in all, the inanimate world also has Brahama for its self and it is real.'

- The Philosophy of Vallabhacarya
- Dr. Marfatia, Page 256

शक्तिमान् के संकेतो पर ही कार्य करती है अत. शुद्ध ब्रह्म अपनी माया रूपिणी शक्ति से इस अचिन्त्य रचनात्मक सृष्टि की रचना करता है । इस प्रकार यह सृष्टि मायिक नही है।

वल्लभाचार्य जी श्रुति के अनन्य-पोषक थे वह कहते है कि श्रुति शुद्ध ब्रह्म को ही जगत्हेतु घोषित करती है । कही-कही पर कर्तृत्व का निषेध है तो वह लौकिक कर्तृत्व का निषेध है अलौकिक कर्तृत्व तो श्रुति को स्वय ही अभीष्ट है ।

आचार्य जी ने " तत्वदीप निबन्ध " मे कहा है कि पुराणो मे जो सृष्टि का मायिकत्व प्रतिपादित किया गया है वह मात्र वैराग्य सिद्धि के लिए है । पुराण तो मित्र के समान है लोक रीति से ज्ञान कराते हुए जगत् को मायिक कह देते हैं । उनका प्रयोजन प्राणी को वैराग्य के लिए प्रेरित करना है । जगत् को मायामात्र कहने का प्रयोजन आसक्ति निवृत्ति है, न कि उसका मायिकत्व सिद्ध करना ।[18]

इसके अतिरिक्त सृष्टि को मायिक मानने पर समस्त लौकिक एव वैदिक व्यवहार बाधित हो जायेंगे तथा शास्त्र प्रवृत्ति एव मोक्ष के लिए किये जाने वाले समस्त प्रयत्न निरर्थक हो जायेंगे । अत यह सृष्टि मायिक नही है । वल्लभाचार्य तो स्पष्ट शब्दों मे कहते हैं कि मायावाद तो

---

18. "मायिकत्व पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते ..... ...।
" पुराणं तु मित्रसमितमिति लोकरीत्या प्रबोधयत् कदाचिन्मायिकत्व बोधयतीत्याह मायिकत्व पुराणेष्विति । आसक्ति निवृत्यर्थ तथा बोध्यते । " - तत्वदीप निबन्ध, प्रकाश 1/90

प्रतारणाशास्त्र है क्योंकि यह सर्वकारणरूप ईश्वर जो कि सबका उपास्य है उसी के माहात्म्य की उपेक्षा करता है।[19]

आविर्भाव - तिरोभाव विचार -

वल्लभाचार्य जी सृष्टि को सत्य मानते हैं इससे सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे " सत्कार्यवाद" के समर्थक हैं। उनके विचार से कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण मे विद्यमान रहता है। जिसे हम उत्पत्ति और विनाश मानते हैं यह वास्तव मे आविर्भाव और तिरोभाव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। "जन्म" एवं "नाश" जैसे पदो का अर्थ हम प्रायः उत्पत्ति एवं विनाश ही लगाते हैं किन्तु उनका तात्पर्य आविर्भाव एवं तिरोभाव है।"[20]

पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे जन्म एवं नाश पदो का अर्थ "जनि/ प्रादुर्भावे " तथा " नाश अदर्शने " किया है।

इस तरह हम कह सकते हैं कि जगत् मे जो उत्पत्ति और विनाश की प्रतीति होती है वह केवल भ्रम है वस्तुतः सभी पदार्थ सर्वदा विद्यमान है,

---

19. "एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम्।
उपेक्ष्य भगवद्भक्तैः श्रुतिस्मृतिविरोधतः।।
— तत्वदीप निबन्ध 1/82

20. क- तथा च विष्णुपुराणे प्रथमेंऽशे " तदेतदक्षयं नित्य जगन्मुनिवराखिलम्। आविर्भाव तिरोभावजन्मनाशविकल्पवदि" ति।"
—विद्वन्मण्डन, पृ0 75

ख- आविर्भाव तिरोभावजन्मनाशविकल्पवद् इति विष्णुपुराणे प्रथमेंऽशे।"
शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड, पृ0 10

उनका केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है । सृष्टि के पूर्व समस्त कार्य जगत् कारणावस्था में ब्रह्म में विद्यमान था और उसकी इच्छा होने पर वह विविध रूपों मे प्रकट हुआ ।[21] शुद्धाद्वैतमत मे शुद्ध ब्रह्म ही कार्य एवं कारणरूप है ।[22] " स आत्मान स्वयमकुरुत" तथा "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" आदि श्रुतियों के आधार पर सृष्टि को ब्रह्मात्मक कहा जा सकता है । आविर्भाव तिरोभाव युक्त होने के कारण जगत् नित्य है, किसी भी वस्तु की उत्पत्ति और [illegible] नहीं होता अपितु भगवान् की इच्छा से आविर्भाव एवं तिरोभाव होता है।

समस्त वेदान्ती - दार्शनिक तथा सांख्य -योग आचार्य सत्कार्यवाद के पोषक हैं तथा नैयायिक, वैशेषिक तथा [illegible] असत्कार्यवाद के समर्थक हैं । वल्लभाचार्य जी का सिद्धान्त सांख्याभिमत सत्कार्यवाद के निकट है । वैषम्य इतना है कि सांख्य मतावलम्बी मूलकारण के रूप मे प्रकृति को स्वीकार करते हैं जबकि श्रुति को अपने सिद्धान्तों का आधार स्तम्भ मानने वाले वल्लभ तथा अन्य वेदान्ती ब्रह्म को । सांख्य मे अचेतन प्रकृति के पुरुष से संसृष्ट हो, चेतनवत् होकर परिमणित होने की लम्बी प्रक्रिया है, जब कि ब्रह्म को मूलकारण स्वीकार करने वाले वल्लभ मत मे चेतन ब्रह्म ही साक्षात् परिणमित होता है । त्रिगुणात्मिका प्रकृति को वे भी स्वीकार करते हैं किन्तु ब्रह्म की

---

21. यत्र येन यतो यस्मै यस्य यद् यद्यथा यदा ।
स्यादिद भगवान् साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वरः ।।
- तत्वदीपनिबन्ध 1/70

22. कार्यकारणरूप हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम् । "शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, 24/

अनेक शक्तियों मे से एक मानकर । जहाँ तक सृष्टि प्रक्रिया और कार्य तथा कारण की सापेक्षस्थिति का सम्बन्ध है, वह सांख्य की ही भाँति है ।[23]

आविर्भाव तिरोभाव ब्रह्म के शक्तिरूप हैं –

विट्ठलेश्वर के अनुसार आविर्भाव तिरोभाव ब्रह्म के शक्तिरूप हैं । वल्लभाचार्य ने तत्वदीपनिबन्ध मे कहा है कि – " आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिणः " अर्थात् आविर्भाव एवं तिरोभाव भगवान् की दो शक्तियाँ है, ब्रह्म की शक्ति होने के कारण यह दोनों भी नित्य हैं ।

पूर्वपक्षी का यह आक्षेप है कि आविर्भाव एव तिरोभाव नित्य है अथवा अनित्य ? इन्हें नित्य नहीं मान सकते क्योंकि घटादि की उपलब्धि सर्वदा होती रहेगी ? अनित्य भी नहीं मान सकते क्योंकि घटादि की सर्वदा अनुपलब्धि का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा । इसके अतिरिक्त आविर्भाव एवं तिरोभाव ब्रह्म के शक्ति स्वरूप नही हो सकते क्योकि व्यावहारिक दशा में रहना अथवा न रहना प्रापंचिक पदार्थों का धर्म है।

इसके उत्तर मे विट्ठलाचार्य कहते हैं कि जगत् ब्रह्म का ही स्वरूप है अतएव ब्रह्म की शक्तियाँ उसमें रहती हैं । जिस प्रकार ब्रह्म अनेक रूप है उसी प्रकार ब्रह्म की शक्तियाँ भी अनेक रूप हैं । इस अर्थ की पुष्टि " पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते " अर्थात् इस परमात्मा की विविध और अद्भुत

---

23. डा० राजलक्ष्मी वर्मा – आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन ।

शक्ति सुनी जाती है, से होती है तथा भागवत पुराण मे भी कहा गया है कि - "विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेवभाति" अर्थात् ईश्वर नाना-शक्ति होकर अनेक रूप प्रतीत होता है ।

## आविर्भाव- तिरोभाव परस्पर सहस्थिति के विरोधी नहीं है -

श्री विट्ठलेश्वर कहते हैं कि किसी भी वस्तु की अनुभूत होने की योग्यता ही उसका आविर्भाव है और अनुभूत न होने की क्षमता ही उसका तिरोभाव है।[24] इस सन्दर्भ मे श्रुति का भी उदाहरण दिया जा सकता है - " एकोऽहं बहुस्याम् प्रजायेय " अर्थात् मैं एक ही अनेक रूप हो जाऊँ, इस श्रुति से आविर्भाव का स्वरूप तथा " हन्त तिरोऽसानि" अर्थात् मैं तिरोहित हो जाऊँ, से तिरोभाव का स्वरूप ब्रह्म की इच्छा के अन्तर्गत ही निरूपित किया गया है। इस तरह से आविर्भाव एवं तिरोभाव" इच्छा-विषयत्व" स्वरूप है इसलिए उनका प्रत्येक वस्तु में साथ रहना भी परस्पर विरुद्ध नहीं है । इसके अतिरिक्त ईश्वर की इच्छा नित्य है इस कारण से किसी वस्तु के सर्वदा ही आविर्भूत रहने या सदा ही तिरोभूत रहने की आपत्ति नही की जा सकती । " जिस देश-विशेष " मे काल-विशेष मे जैसे कारणो के द्वारा जिस वस्तु को जिस प्रकार प्रकट करने की भगवान् की इच्छा है वह वैसे देश-विशेष में काल-विशेष

---

24. अनुभवविषय योग्यता आविर्भावः । तद्वि[illegible]यता तु तिरोभावः ।
— विद्वन्मण्डनम्, पृ0 85, 86 द्रष्टव्य ।

में वैसे ही कारणो के द्वारा उस प्रकार प्रकट होती है । ऐसे ही देश-विशेष में, काल-विशेष में तिरोहित भी होती है ।" [25]

पूर्वपक्षी नैयायिक यह मानते हैं कि उत्पत्ति के पूर्व तथा नाश के अनन्तर वस्तु की सत्ता नहीं रहती । योगियो को अपने तपोबल अथवा योगबल से ही असत् वस्तु का साक्षात्कार हो जाता है।

इसके उत्तर मे विट्ठलेश्वर कहते हैं कि योगियो को असत् नहीं सत् वस्तु का प्रत्यक्ष होता है क्योकि इस विषय मे श्रुतिवचन प्रमाण है -

" अनागतमतीत च वर्तमानमतीन्द्रियम् ।

विप्रकृष्ट व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः ।।

अर्थात् योगी भूत भविष्य तथा अदृश्य वर्तमान को अच्छी तरह देखते हैं । भागवत पुराण मे उक्त-"प्रजाश्च तुल्य कालीना नाधुना सन्ति कालिता" वचन से प्रजा का नाश नहीं अपितु तिरोभाव प्रतीत होता है । अतएव हम यह कह सकते हैं कि वस्तु सदा विद्यमान रहती है ।

पूर्वपक्षी यह शका व्यक्त करता है कि यदि वस्तु सदा विद्यमान रहती है तब भूत एव भविष्य का व्यवहार अर्थात् " हो गया" या "होगा" का व्यवहार कैसे सम्पन्न होगा ? व्यवहार-काल में भी यह देखा जाता है कि जिसका "प्रागभाव" होता है उसे "भावी" तथा जिसका "प्रध्वसाभाव" होता है उसे "भूत" कहते हैं ।

---

25. सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष, पृ0 26 द्रष्टव्य

वस्तु का अस्तित्व सदा विद्यमान रहने से भूत एवं [illegible] अप्रामाणिक नहीं है -

इसके प्रत्युत्तर में श्री विट्ठल कहते हैं कि वस्तु की सत्ता सदा विद्यमान होने से भूत एवं भविष्यत् का व्यवहार अप्रामाणिक नहीं सिद्ध होता । "भूत एव भावी" शब्द धर्म वाचक हैं और धर्म की स्थिति धर्मों के बिना सभव नहीं है । अत धर्मी वस्तु उत्पन्न होने के पहले और नष्ट होने के बाद न रहे तो इन पदो के द्वारा जिन धर्मों का बोध होता है, उनकी स्थिति असंभव हो जाती है। अतएव उक्त धर्मों की स्थिति के लिए धर्मी की सत्ता सर्वदा मानना अति आवश्यक है।

विट्ठलनाथ ने न्यायवैशेषिकों की चार प्रकार के अभावो यथा- प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव, और अत्यन्ताभाव का खण्डन किया है । वह कहते हैं कि किसी वस्तु का प्रागभाव नहीं होता क्योंकि वस्तु तो सदा वर्तमान रहती है जैसे मिट्टी मे घड़ा बनाने की योग्यता है, घट मिट्ट ी मे सत् है अर्थात् विद्यमान है । नैयायिको के असत्कार्यवाद का विरोध समस्त वे ान्तियो ने किया है।

यदि वस्तु असत् है तो, प्रागभाव एवं ध्वसाभाव रूप जो धर्म है वह अपने प्रतियोगी धर्मियो घटादि में रहते हैं ,जब धर्मी की सत्ता ही न होगी तो धर्म कहाँ रहेंगे ? इसलिए वस्तु की सत्ता सदा रहती है।

पूर्वपक्षी पुन अपनी शंका व्यक्त करते हुए कहते हैं कि -भूत और भविष्य काल के भेद हैं, काल-भेद सूर्य की गति से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए भूत-भावी धर्म सूर्य की गति मे रहते हैं । जैसे पट तन्तुओं से बनता है, पट कार्य है और तन्तुकारण है इन दोनों के बीच समवाय सम्बन्ध है। समवाय सम्बन्ध तन्तु एव पट दोनों मे रहता है पट भी तन्तु मे रहता है । पट एवं समवाय तन्तु एव काल दोनों मे रहते हैं काल में इसलिए रहते हैं क्योंकि काल सबका आधार है। लेकिन केवल तन्तु मे ही समवाय सम्बन्ध की प्रतीत होती है काल मेंनहीं अतएव भूतत्व एवं भावित्व वस्तु एव काल दोनों में रहते हैं किन्तु प्रतीति केवल वस्तु मे होती है काल में नहीं ।

विट्ठलेश्वर ने आविर्भाव एवं तिरोभाव* का विचार करते हुए न्याय-वैशेषिकों का अभूतपूर्व खण्डन किया है वह कहते हैं कि - पूर्वपक्षी ने जा पट का दृष्टान्त दिया है वह अनुचित है क्योंकि पट समवाय सम्बन्ध से तन्तु मे रहता है और कालिक-सम्बन्ध से काल में रहता है - इन दोनो आधारों में वह दो पृथक् सम्बन्धों से रहता है - इसीलिए दोनों मे समान प्रतीति नही होती है ।

परन्तु पूर्वपक्षी के मत में भावित्व -भूतत्वों का स्वरूप प्रतियोगित्व है - जिसे कि स्वरूप सम्बन्ध कहते हैं और स्वरूप सम्बन्ध स्वरूपात्मक होने से अपनो आधेय रूप से प्रतीति कराने के लिए अन्य किसी सम्बन्ध की अपेक्षा नही करता है - सर्वत्र स्व-स्वरूप से रहता ही रहता है - "इसलिए भावित्व

-भूतत्वो की स्थिति घट पट आदि पदार्थों मे और काल मे केवल एक स्वरूपात्मक सम्बन्ध से ही मान सकते हैं, दोनो आधारो मे पृथक् - पृथक् सम्बन्ध भेद की कल्पना नही कर सकते । अतएव घट-पटादि पदार्थों के समान काल मे भी भावी भूत-प्रतीति का होना तुम्हारे मत के अनुसार सर्वथा अनिवार्य है ।[26]

भाविभूत प्रतीति कारक धर्म विशेष की कल्पना अनावश्यक -

पूर्वपक्षी का विचार है कि जैसे घटत्वजाति घट में रहती है और सृष्टि के अन्त मे जब घटादि नष्ट हो जाते हैं तब वह जाति काल में भी रहती है और ऐसे ही वह एक " विशेष" की कल्पना करता है जो अन्य किसी सम्बन्ध की अपेक्षा न रखता हुआ भी भाविभूत प्रतीति घटादि में ही कराता है काल में नहीं ।

विट्ठलेश्वर का विचार है कि भाविभूत प्रतीति की कल्पना, यह "विशेष" किसमे रहता है ? यह विशेष नित्य है अथवा अनित्य ? यदि नित्य है तो वर्तमान पदार्थों में भी '[illegible] प्रतीति होनीचाहिए यदि अनित्य है तो आप किसी ऐसे अनित्य धर्म को नही स्वीकार करते जो अपने धर्मी के बिना काल में रहता हो ।

भावि-भूत प्रतीति के लिए असत् तुल्य धर्म "विशेष" की कल्पना अनावश्यक है । यदि ठीक विचार किया जाये तो वस्तु की सत्ता सदा माने बिना यह धर्म "विशेष की कल्पना सत्य नहीं सिद्ध हो सकती ।

---

26. सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष, पृ0 29

भावित्व-भूतत्वों का सन्निकर्ष -

जैसा कि पूर्वपक्षी का कथन है कि " अन्य किसी सम्बन्ध के बिना भावि-भूत प्रतीति कराने की योग्यता" विशेषों में होती है - यह सिद्धान्त अनुपपन्न है क्योंकि जैसे असख्य घटो की पहचान उसमे रहने वाली "घटत्व"जाति से होती है उसी प्रकार असख्य वस्तुओं मे रहने वाली "भाविभूत प्रतीति कारक योग्यता" का भी परिचायक अपेक्षित है, बिना परिचायक के यह नहीं जाना जा सकता कि किसमे भाविभूत प्रतीति कारक योग्यता है अथवा नहीं है ? इस तरह की व्यवस्था नैयायिकों के यहाँ नही है जिसके साथ किसी भी ज्ञान-साधन का सम्बन्ध ही न हो ।

शुद्धाद्वैती दार्शनिक सम्बन्ध स्वीकार करते हैं । भाविभूत पदार्थों का योगियों को प्रत्यक्ष होता है, साधारण जन को भी "इन्द्रिय-सयुक्त समवेत-समवाय" सम्बन्ध से भावित्व-भूतत्वों का प्रत्यक्ष होता है यह शास्त्रीय [illegible] एव तर्कों से सिद्ध हो चुका है कि वस्तु [illegible] के पूर्व एव तिरोभाव के अनन्तर कारण रूप मे रहती है ।

सत्कार्यवाद -

वस्तु का अस्तित्व सदा रहता है यह "पुरूष एवेद सर्वम् " तथा "अनागतमतीतं च " श्रुति से सिद्ध है । किन्तु वस्तु की सत्ता को अनुमान प्रमाण के द्वारा सांख्य-दर्शन में भी प्रमाणित किया गया है -

"असदकरणात् उपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
शक्तस्यशक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।।"

– सांख्य तत्व कौमुदी

प्रथम हेतु है – उत्पत्ति से पूर्व भी वस्तु सत् होती है, जैसे हजारो व्यक्ति मिलकर भी नीले रंग को पीला नहीं बना सकते उसी प्रकार जो नही है अर्थात् असत् है उसे सत् नहीं बनाया जा सकता ।

द्वितीय हेतु – उत्पत्ति से पर्व वस्तु की सत्ता उसके उपादानकारण में होती है, जैसे घट मिट्टी मे रहता है।

तृतीय हेतु – सम्बद्ध कारण से ही सम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति होती है, जैसे तिलो से ही तेल निकलता है बालू से नहीं ।

चतुर्थ हेतु – केवल समर्थ कारण से ही अभीष्ट कार्य की सिद्धि होती है।

पचम हेतु – वस्तुतः उपादान कारण से कार्य भिन्न नही है।[27]

"सत्कार्यवाद" का यह सिद्धान्त विट्ठलेश्वर को मान्य है । तर्क से पुष्टि करने के उपरान्त उन्होनें महाभारत की एक कथा का भी उपन्यास किया । महाभारत के "आश्रमवासिक "पर्व" के 32वे अध्याय में एक कथा है जिसका साराश इस प्रकार है –

"महाभारत के युद्ध के उपरान्त शोकसन्तप्त धृतराष्ट्र, गान्धारी इत्यादि व्यास जी के पास गये, व्यास जी ने उन्हे अनेक प्रकार से सांत्वना

---

27. हरितोषिणी पृ० 101-102 द्रष्टव्य

दी इसके पश्चात् गंगास्नान करके लौटे हुए धृतराष्ट्र , गान्धारी आदि को युद्ध मे मृत दुर्योधनादि का आह्वान करके उनसे मिलवाया । धृतराष्ट्र को व्यास जी ने दिव्य चक्षु प्रदान किये थे । धृतराष्ट्र, गान्धारी आदि अपने मृत सम्बन्धियो को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए, पुनः प्रकट हुए लोगों ने रात्रि-बिहार किया तदुपरान्त अपने यथा स्थान वापस लौट गये । "

इस कथा को वैशम्पायन के मुख से जब जनमेजय ने सुना तो उन्हे विश्वास नही हुआ कि मृत-पुरूष पुन अपनी पूर्वस्थिति मे आ सकते हैं । तब वैशम्पायन ने उनकी शंका का समाधान करते हुए कहा कि जीवों का शरीर जिन पञ्च महाभूतों से बना है, उनके परमाणु नित्य है, जीवात्माये तो नित्य है ही । अतएव मृत पुरूषों के पुनदर्शन में केवल जीवात्मा शरीराकृतियों का परस्पर सम्बन्ध होना तथा भगवान् की इच्छा ही अपेक्षित है। जब यह सम्बन्ध भगवान् की इच्छा से हो जाता है तब मृतपुरूष, जिनको ईश्वर दिखाना चाहता है, दृश्य हो सकते हैं ।

इस कथा से यह सिद्ध होता है कि वस्तु सर्वदा विद्यमान रहती है, केवल उनके तिरोहित हो जाने के कारण ही उसमे असद्बुद्धि होती है । सांख्याभिमत सत्कार्यवाद एव वल्लभाचार्य द्वारा स्वीकृत सत्कार्यवाद में मात्र इतना अन्तर है कि सांख्य मूलकारण के रूप में प्रकृति को मानता है जबकि वल्लभ ब्रह्म को मूल कारणमानते हैं ।

आविर्भाव -तिरोभाव पर विचार करने के उपरान्त सृष्टि के परिणमित होने की प्रक्रिया पर संक्षिप्त रूप से विचार किया जायेगा।

सृष्टि ब्रह्म का वास्तविक परिणाम है -

सृष्टि ब्रह्म का वास्तविक परिणाम है । सृष्टीच्छा होने पर ब्रह्म ही इस नामरूपात्मक जगत् के रूप में परिणमित होता है। यह परिणामवाद दूध का दही के रूप मे परिवर्तित होना नही है अपितु सुवर्ण का कटक, कुण्डलादि रूपों में परिणत होना है वल्लभाचार्य ने "सुवर्ण" का दृष्टान्त एक विशेष प्रयोजन से दिया है क्योंकि दूध का दधि रूप मे परिणमित होना मानने पर ब्रह्म विकारग्रस्त हो जायेगा क्योकि दूध जब तत्वत. विकृत हो जाता है तभी वह दही बनता है किन्तु सुवर्ण से कुण्डलादि बिना विकारग्रस्त हुए ही बनते हैं, यही कारण है कि वल्लभाचार्य इसी रूप का परिणाम मानते हैं, उनके इस सिद्धान्त को "अविकृत -परिणामवाद कहा जाता है ।

ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है अत· उसे परिणामित होने के लिए किसी सहायक की आवश्यकता नहीं है। वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को " विरुद्धधर्माश्रयी " मानकर उसकी परिधि इतनी विस्तृत कर दी है उसका एक साथ परिणामी एवं अपरिणामी होना भी संभव है।

ब्रह्म अपने सच्चिदानन्द स्वरूप से अविकृत रहते हुए भी भोक्ता जीव एव भोग्य जगत् के रूप में परिणमित होता है, क्योकि परिणाम

का अर्थ विकृत होना नहीं है अपितु यथास्थितभाव का प्राकट्य मात्र है ।[28]

ब्रह्म के परिणमित होने से उसमें सावयवापत्ति भी नहीं होती । यद्यपि कि लोक मे ऐसा देखा जाता है कि जो समवायि कारण होते हैं वे सावयव एव विकृत होते हैं किन्तु ब्रह्म विकृत नही होता । विट्ठलेश्वर कहते हैं कि " प्रमाण सदैव यथास्थित वस्तु का ही ज्ञान कराता है, उसमें अपनी ओर सेकुछ जोड़ता-घटाता नहीं । श्रुति भी यथास्थित निरवयव ब्रह्म का ही समवायित्व प्रख्यापित करती है अत ब्रह्म के सावयवत्व की शंका नही करनी चाहिए ।"[29]

वल्लभाचार्य ब्रह्म को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण स्वीकार करते हैं । सृष्टि ब्रह्म से ही उद्भूत होती है और उसी में लीन हो जाती है -

"यथोर्णनाभि. सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सत पुरूषात्केशलोमानि
तथाऽक्षरात्संभवतीहविश्वम् ।। [30]

सृष्टि प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर सर्वप्रथम अभिव्यक्ति अक्षर रूप की होती है उसके बाद अन्तर्यामी, जीव, जड, काल कर्म एव स्वभाव ।

---

28. . . तत्र यथास्थित प्राकट्यस्यैव परिणामत्वेन विवक्षितत्वात् ।"
- अणुभाष्य 2/3/17 पर भाष्य प्रकाश

29. विद्वन्मण्डनम् , पृ0 195 द्रष्टव्य ।

30. मुण्डकोपनिषद् 1/1/7

ब्रह्म की अभिव्यक्तियों के सन्दर्भ मे विस्तृत चर्चा " परम-सत्ता" सम्बन्धी अध्याय मे हो चुकी है ।

ब्रह्म ही अक्षर रूप से प्रपञ्च की सृष्टि करताहै , अक्षर ही सृष्टि का कारण है, अक्षर ही ज्ञानियो का उपास्य है।

अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म सम्पूर्णरूपमे आविर्भूत होता है । जब जीव इस जगत् को ब्रह्म से पृथक् समझकर उसमें वास्तविक द्वैत देखने लगता है । तब इसी द्वैतबुद्धि से ससार का निर्माण होता है । यह ससार अविद्या का कार्य है । अविद्याग्रस्त व्यक्ति को पदार्थ का वास्तविक ज्ञान नही हो पाता ।

जगत् सत्य है, इस सन्दर्भ मे विष्णु-पुराण मे आये हुए कतिपय प्रसिद्ध वाक्य इस प्रकार हैं -

"तदेतदक्षय नित्य जगन्मुनिवराखिलम् ।
आविर्भावतिरोभाव जन्मनाश विकल्पवत् ।।"

– विष्णु पुराण

अर्थात् सम्पूर्ण जगत् अविकारी और नित्य है, इसमे जो उत्पत्ति और नाश की प्रतीति होती है वह सब आविर्भाव-तिरोभाव स्वरूप हैं ।

यद्यपि कि जगत् सत्य है किन्तु शास्त्रो मे कहीं कही उसे असत्य कहा गया है इस असत्य कथन को वैराग्यार्थ समझना चाहिए ।

---

कहीं-कहीं मायिक भ्रम से प्रतीत हुए वस्तु-स्वरूपो को अर्थात् आन्तरालिक सृष्टि को लक्ष्य करके भी जगत् को असत्य कहा गया है।

पुराणो मे जो संसार को असत्य कहा गया है वह वास्तविक है । ससार यह नाम मात्र अहता एवं ममता के कारणभूत अभिमान का है ।[31] देहेन्द्रिय अथवा पञ्च महाभूतो का नहीं । भागवत पुराण मे कहा गया है कि - "आत्मा एव देह के सृष्टि मे व्याप्त रहता है। यह अन्तर्यामी समस्त जीवो में रहता है किन्तु जीवो के सुख-दु खादि रूप भोग से वह सम्पृक्त नही होता । " पूर्ण परात्परब्रह्म श्रीकृष्ण, अक्षर और अन्तर्यामी को वल्लभ क्रमशः ब्रह्म का आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप स्वीकार करते हैं । वल्लभ इनमे नियम्यनियामक भाव भी स्वीकार करते हैं । अन्तर्यामी जीवों का नियामक हैं, अन्तर्यामी का नियामक है अक्षर तथा अक्षर का नियामक श्रीकृष्ण स्वरूप हैं । "[32]

जीव ब्रह्म का अश है और ब्रह्म अशी । जीव ब्रह्म की अभिव्यक्ति है । जैसे अग्नि से हजारो चिनगारियाँ निकलती है वैसे ही ब्रह्म से जीवो की अभिव्यक्ति होती है।

जीव के उपरान्त जड, काल, कर्म तथा स्वभावादि की अभिव्यक्तियाँ उद्भूत होती हैं ।

---

31. हरितोषिणी , पृ0 132 द्रष्टव्य ।
32. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन
    - डॉ0 राजलक्ष्मी वर्मा

ब्रह्म की जड रूप की अभिव्यक्ति जगत् है, जगत् में चित् एव आनन्द तिरोहित होता है केवल "सत्" रूप ही वर्तमान रहता है। वल्लभाचार्य जी कहते हैं कि यह प्रपञ्च प्राकृत एव परमाणु जन्य नही है और न ही विवर्तरूप है और न ही यह असत् स्वरूपा है यह जगत् वस्तुत भगवत्कार्य है । "[33] जगत् ब्रह्मस्वरूप है, अतएव जगत् भी नित्य है। जगत् की उत्पत्ति एव विनाश नहीं होता अपितु ईश्वर की इच्छा मात्र से उसका आविर्भाव एव तिरोभाव होता है।

वल्लभाचार्य जी कहते हैं कि वेदान्तसूत्र 2/1/14/ "तदनन्यत्व-मारम्भणशब्दादिभ्य " से जगत् का ब्रह्म से अभिन्नत्व प्रकट किया गया है मिथ्यात्व नही ।[34] छांदोग्य-[illegible] के श्वेतकेतु-उपाख्यान में इस श्रुति का सम्पूर्ण विवरण इस प्रकार है -

" यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञात स्याद् ।
वाचारम्भणं विकारो नामधेय मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।। "

अर्थात् हे सौम्य श्वेतकेतु जैसे एक मिट्टी के ढेले से समस्त मिट्टी की वस्तुएँ ज्ञात हो जाती है । मृत्तिका की वस्तुओ को मृत्तिका से भिन्न प्रमाणित करने वाला विकार कथन मात्र, अवस्था विशेष की प्रतीति कराने वाले घटादि केवल नाममात्र के हैं, अन्तत. उनका कारण मृत्तिका ही सत्य है ।

---

33 तत्वदीपनिबन्ध , 76 पर प्रकाश पृ० 99

34. " आरम्भण शब्दादिभ्यः तदनन्यत्व प्रतीयते । कार्यस्य कारणानन्यत्वं न मिथ्यात्वम् । अणुभाष्य, 2/1/14/

इस श्रुति में कहा गया है कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, सृष्टि की सत्यता ब्रह्म रूप से ही है। लोक में जो व्यावहारिक भेद दृष्टिगत होता है वह केवल कथनमात्र के लिए ही है।

जगत् एव ससार भिन्न-भिन्न हैं -

शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय की महत्वपूर्ण अवधारणा है - जगत एव ससार को भिन्न-भिन्न मानना । जगत उतना ही सत्य है जितना कि ब्रह्म । ब्रह्म अपने सच्चिदानन्द रूप में से चिदानन्द को तिरोहित करके जगत रूप मे आविर्भूत होता है। शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होने के अनन्तर ससार का कुछ इनके साथ सम्बन्ध नही रहता क्योंकि आत्मा का जो देहेन्द्रियादि के साथ अज्ञानमूलक अभेदाभिमान हैं, वही संसार है। [35]

ससार की सृष्टि भगवान् की अविद्या-माया के द्वारा होती है , यह अविद्या पंचपर्वा होती है अन्तःकरणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास तथा ~~स्वरूप~~ विस्मरण इत्यादि पच पर्व हैं।

नृसिंहोत्तर तापिनी श्रुति में कहा गया है कि यह जगत् जड है, अज्ञान-स्वरूप एव तुच्छ हैं, इसके प्रवाह का कभीअन्त नहीं होता और इसको माया प्रकट करती है। [36]

---

35. नैवात्मनो न देहस्य ससृतिः सुविविक्तयोः ।
अविवेकस्तयोर्योसाविह तस्यैव ससृति ।।
- भागवत पुराण, एकादश स्कन्ध ।

36. तदेतज्जड मोहात्मकमनन्तं तुच्छमिदं रूपमस्यास्या व्यञ्जिका ।"
- नृसिहोत्तरतापिनी, नवम खण्ड

यह श्रुति जगत् को असत्य नहीं कहती अपितु उसमे दृष्टिगत होने वाली भेद प्रतीति को ही अवास्तविक कहा गया है।

सांख्य-दर्शन की आन्तरालिक सृष्टि अर्थात् प्रकृति-पुरुष के सहयोग से जो सृष्टि होती है उसे असत्य माना गया है किन्तु वैदिक सृष्टि जो कि ब्रह्म से मानी जाती है , वह असत्य नही है। शुद्ध ब्रह्म से ही सृष्टि होती है इसलिए सृष्टि ब्रह्म-स्वरूप एव सत्य है।

प्रपञ्च मे जो विचित्रता है उसका हेतु ईश्वर की इच्छा है -

प्रपञ्च में विचित्रता का कारण जीवों के द्वारा किये गये शुभ एव अशुभ कर्म नही हैं अपितु ईश्वर की इच्छा है। पूर्वपक्षी व्र॰ सूत्र 2/3/42 " कृत प्रयत्नापेक्षस्तु विहित-प्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य " का अर्थ यह लगाते हैं कि जीवो के शुभ एव अशुभ कर्मों के अनुसार ही ईश्वर उन्हे फल प्रदान करता है।

विट्ठलेश्वर इसका विरोध करते हुए कहते हैं कि - यदि सूत्रोक्त "कृत प्रयत्न .... का अर्थ धर्म एवं अधर्म है, तो इन धर्म एवं अधर्म , शुभ अथवा अशुभ कर्मों को जीव स्वय करता है अथवा ईश्वर उन्हें प्रेरित करता है ? यदि जीव ने स्वयं ही शुभ एवं अशुभ कर्म किये हैं तो जैसे पूर्वजन्म में किया वैसे ही इस जन्म भी कर लेंगे , इस स्थिति मे ईश्वर की आवश्यकता रह ही नहीं जायेगी ।

यदि ईश्वर जीव को प्रेरित करता है तो वे कौन से धर्माधर्म हैं जिनके अनुसार वह प्रेरित करता है ? क्योंकि उनसे पूर्व तो कोई धर्म-अधर्म थे ही नहीं ।

जैसे कोई अन्धा दूसरे अन्धे का अनुकरण करता है उसी तरह जीवन का अनादि-प्रवाह अनादि काल तक चलता रहेगा जीव अपने पूर्व-पूर्व धर्म एव अधर्मों के अनुसार उत्तरोत्तर धर्माधर्म करता जायेगा, उसे ईश्वर की आवश्यकता ही न पड़ेगी, ऐसी विचारधारा अत्यन्त दोषपूर्ण है।

श्री विट्ठल कहते हैं कि इस प्रपञ्च की रचना क्रीडा के लिए की गयी है, क्रीडा, मर्यादा के बिना सम्पन्न नही हो सकती अतएव सृष्टि के प्रारभ में ही ईश्वर के " इन इन जीवो को इन साधनो के द्वारा इस देश में इस कालमे सुख अथवा दु.ख प्राप्त हो " इस तरह की व्यवस्था कर दी है। यही अभीष्टार्थ है "कृत प्रयत्नापेक्षस्तु " सूत्र का जो सुख के साधन हैं उनका विधान वेद में किया गया है और जो दु'ख के साधन हैं उनका निषेध किया गया है।

इस प्रकार "सृष्टि प्रकरण " की विवेचना यहीं समाप्त होती है ।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय की भक्ति विषयक मान्यता-भक्ति का स्वरूप-

माया एवं सृष्टि का विवेचन करने के पश्चात् शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय की एक महत्वपूर्ण धारणा अछूती रह जाती है, वह है

साथ संलग्न हो जाता है तभी तृप्ति पूर्णावस्था को प्राप्त होती है। "[37] उस अन्तिम सत्य से मानव का प्रेम ही भक्ति है।

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र के अनुसार " ईश्वर में निरतिशय अनुराग ही भक्ति का लक्षण है।" [38] विट्ठलेश्वर ने विवेच्य ग्रन्थ में " भक्ति" का वर्णन नहीं किया है, भक्ति का विवेचन उन्होंने "भक्ति-हस, तथा "भक्ति निर्णय" जैसे ग्रन्थो मे किया है। किन्तु " भक्ति" का वर्णन किये बिना सिद्धान्त अधूरा सा प्रतीत होताहै। अतएव आचार्य वल्लभ एवं विट्ठल दोनो की समन्वित विचारधारा के अनुसार भक्ति की धारणा इस अध्याय में स्पष्ट की जा रही है -

" भक्ति" शब्द की उत्पत्ति " भज् सेवायाम्" धातु से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है सेवा। भज् धातु से भाव अर्थ मे क्तिन् प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न भक्ति [39] शब्द का अर्थ है -चितवृत्ति" का अविच्छिन्न रूप से भगवत् स्वरूप में लिप्त रहना।

भक्ति को महिमा-मण्डित करने वाले शुद्धाद्वैत दार्शनिक सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक और भक्ति सेवाप्रधान पुष्टि मार्ग के मूल प्रवर्तक श्रीमद् वल्लभाचार्य जी थे। आचार्य जी ने अपने ग्रन्थ तत्वदीप-निबन्ध को अपनी टीकापरक व्याख्या "प्रकाश" मे लिखा है कि "भक्ति"

---

37. भक्ति का विकास- मुशीराम शर्मा, पृ0 70
38. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र - सा परानुरक्तिरीश्वरे। 1/2
39. भक्ति, पाणिनि, अष्टाध्यायी, 4/3/95

शब्द का धात्वर्थ सेवा है और प्र त्ययार्थ प्रेम अर्थात् स्नेह है। भक्ति मे प्रेम की अपेक्षा सर्वप्रमुख है। श्रीमद् वल्लभाचार्य के द्वितीय पुत्र श्री विट्ठलनाथ ने अपनी पुस्तक " भक्तिहंस" में स्पष्ट रूप से कहा है कि - " भक्तिपदस्य शक्तिः स्नेह एव। " " [illegible] रिति प्रोक्त" " ऐसा "पचरात्र" मे भी कहा गया है।

वल्लभाचार्य को भक्तिपद का प्रत्ययार्थ प्रेम अथवा स्नेह ही अभीष्ट है। वे अपने ग्रन्थ " तत्वदीपनिबन्ध" में लिखते हैं कि " ईश्वर के प्रति माहात्म्य ज्ञान रखते हुए जो सुदृढ़ और "सर्वतोऽधिक" स्नेह है, उसे ही भक्ति कहते हैं । " {तत्वदीप निबन्ध, 46}

वल्लभाचार्य जी के मत पर सर्वाधिक प्रभाव श्रीमद्भागवत महापुराण का है । गीता मे भी भक्ति का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है कि - " समोऽहं सर्वभूतेषु नमे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मा भक्त्यामयि ते तेषु चाप्यहम् ।।

- गीता, 9/29

अर्थात् श्रीकृष्ण का कथन है कि यद्यपि मे समस्त भूतों मे समान रूप से विद्यमान हूँ न कोई मेरा अप्रिय है, न प्रिय है किन्तु जो भक्त मेरा भजन"प्रेम" से करते हैं वे मुझमे है और मैं उनमे हूँ ।

वल्लभाचाय जी के द्वारा स्वीकृत प्रेमरूपा भक्ति तीन प्रकार की मानी जाती है तनुजा, वित्तजा एवं मानसी । अपने शरीर से की गई सेवा

तनुजा है और धनादि से की गई सेवा वित्तजा है । तनुजा एव वित्तजा सेवाये क्रियात्मक मानी जाती है, किन्तु मानसी भक्ति एक भावात्मक तथ्य है इसलिए वास्तविक भक्ति मानसी ही मानी जाती है। आचार्य जी ने अपने प्रकरण ग्रन्थ "सिद्धान्तमुक्तावली" में स्पष्ट -रूपेण उद्धृत किया है कि मानसी सेवा श्रेष्ठतम है - "मानसी सा परा मता " §सिद्धान्त मुक्तावली, । §

मानसी भक्ति को वल्लभाचार्य तथा विट्ठलनाथ दोनो ही भक्ति की उच्चतम स्थिति मानते हैं और यह न केवल उच्चतम स्थिति है अपितु यह साध्यस्वरूपा भी है । इसकी साध्यावस्था की प्राप्ति निरायास नही हो जाती अपितु इसके लिए भी साधना की आवश्यकता पड़ती है। यह साधना तनुजा एवं वित्तजा रूप की भक्ति के द्वारा की जाती है। संक्षेप मे हम कह सकते हैं कि मानसी भक्ति साध्य है और उसकी प्राप्ति का साधन तनुजा एव वित्तजा भक्ति है।

डॉ० राजलक्ष्मी वर्मा के शब्दों मे " वल्लभ और विट्ठल "भक्ति" शब्द के प्रत्ययार्थ "प्रेम" को मुख्य मानकर भक्ति का भावरूपत्व स्वीकार करते हैं किन्तु धात्वर्थ"सेवा" के आग्रह से कायिक-व्यापार का भी सर्वथा निषेध नही करते ।"[40]

---

40. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शनका आलोचनात्मक अध्ययन
-डॉ० राजलक्ष्मी वर्मा

शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय के महान् विद्वान् गोपेश्वर महाराज जी के अनुसार स्नेह अथवा प्रेम भक्तिपद का रूढार्थ है और सेवा यौगिकार्थ है तथा ये दोनो ही एक साथ शक्यतावच्छेदक हैं अतः प्रेमपूर्वक कायिक व्यापार ही भक्ति है। यहाँ पर लौकिक क्रिया के निषेध के लिए प्रेमपूर्वक कहा गया है और मानस व्यापार के वारणार्थ कायिक ।[41] अर्थात् श्रीकृष्णविषयक प्रेमपूर्वक कायिक व्यापार को ही हम भक्ति कह सकते हैं ।

अत भक्ति के सन्दर्भ मे वल्लभाचार्य जी की विचारधारा है कि भक्ति स्वरूपतः प्रेम ही है, प्रेम तत्व से रहित कायिक, वित्तजा एव मानसी सेवाये भक्ति तत्व के अन्तर्गत कदापि नहीं मानी जा सकती - भक्तिः परा प्रेम-लक्षणा ।[42]

वल्लभाचार्य जी की पुष्टि भक्ति -

वल्लभाचार्य की भक्ति विषयक मान्यता का पर्यवसान "पुष्टिमार्ग" रूपी एक विशिष्ट भक्ति पद्धति के रूप में हुआ ।

वल्लभाचार्य जी का मत दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से शुद्धाद्वैत है तो वही विचारधारा क्रियात्मक अथवा व्यावहारिक पक्ष

---

41. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन
डा0 राजलक्ष्मी वर्मा

42. सुबोधिनी श्रीमद्भागवतमहापुराण ।।/2/42

मे पुष्टि मार्ग" कहलाती है ।

"पुष्टिमार्ग " के रूप मे आचार्य जी ने साधनहीन एवं भावनाप्रधान जीवो के हितार्थ मार्गदर्शन किया। यद्यपि आचार्य ने अपने साधको के सौकर्य के लिए अपने दार्शनिक मतवाद को सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक रूप प्रदान किया तथापि दोनों मार्गों का सर्वोच्च प्राप्य परब्रह्म श्रीकृष्ण एक ही हैं -

" परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।"

§ सिद्धान्तमुक्तावली, श्लोक 3§

वल्लभ ने स्पष्ट रूप से कहा है कि -" अद्भुत कर्मा श्रीकृष्ण को मेरा नमन , जो रूप नाम भेद से जगत् मे क्रीडा करते हैं तथा जिनसे जगत् की उत्पत्ति होती है । " [43]

ब्रह्मात्मैकत्व की प्राप्ति के लिए ज्ञान, कर्म एव भक्तिमार्ग साधन हैं किन्तु वल्लभाचार्य के कथनानुसार " भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वसुगम है । "[44] इस भक्तिमार्ग कोही उन्होंने "पुष्टिमार्ग का नाम दिया । सांसारिक जीवो का श्रीकृष्ण के साथ स्वाभाविक रूप से तादात्म्य स्थापित कराने के लिए महाप्रभु ने जो सेवापद्धति निर्धारित की उसे ही "पुष्टिमार्ग " कहते हैं ।

---

43. तत्वदीपनिबन्ध कारिका, ।
44. तत्वदीपनिबन्ध

पुष्टि का अर्थ -

"पुष्टि" से तात्पर्य है "पोषण"

यह पुष्टि या पोषण दो प्रकार का होता है - भौतिक एव आध्यात्मिक। शारीरिक पुष्टि एवं सुरक्षा के लिए प्रयत्न करना भौतिक पोषण है और आध्यात्मिक पोषण का अर्थ है आत्मा का पोषण । आत्मा का पोषण ईश्वर की कृपा से ही सभव है। यह द्वितीय प्रकार का पोषण ही "पुष्टि" है ।

श्रीमद्‌भागवत महापुराण मे "पुष्टि" के सन्दर्भ मे कहा गया है कि - "पोषणं तदनुग्रहः ।" [45]

वल्लभाचार्य की भक्तिविषयक मान्यता का मूलाधार श्रीमद्-भागवत महापुराण ही है। उन्हे पुष्टि का वही अर्थ अभीष्ट है जो श्रीमद्‌भागवतपुराण मे वर्णित है। अर्थात् वे पुष्टि का अर्थ "भगवदनुग्रह" ही मानते हैं । उनके अनुसार पुष्टि जीवकर्म सापेक्ष नहीं है यह तो एक स्वतन्त्र ईश्वरीय धर्म है जो कृपा, अनुग्रह तथा अनुकम्पा आदि शब्दों से वाच्य है।

प्राणिमात्र के कल्याण के लिए तीन मार्ग -

वल्लभाचार्य ने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए तीन मार्गों का प्रणयन किया - प्रवाह , मर्यादा, एवं पुष्टि इनके प्राणतत्व क्रमश कर्म,

---

45. श्रीमद्‌भागवत महापुराण 2/10/4

ज्ञान एव भक्ति हैं ।

यह तुच्छ सासारिक जीवन तथा अबाध गति से निरन्तर जारी जन्म एव मृत्यु का सचरण चक्र ही प्रवाह है । इस मार्ग की विशिष्टता यह है कि इसमे मानव सासारिकता मे पड़कर भी भगवद्प्राप्ति के लिए सचेष्ट रहता है।

वेदानुकूल कर्म का अनुसरण करते हुए ज्ञानप्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहना मर्यादा है। मर्यादा-मार्ग मे प्राणी अपने कर्म के वशीभूत होता है वह जैसा कर्म करेगा उसे उसी तरह का फल भी प्राप्त होगा।

तीसरा मार्ग है पुष्टि मार्ग जिसके विषय में हम पहले ही संकेत कर चुके हैं । यह भगवत् प्रेम का मार्ग है। यह केवल ईश्वर के अनुग्रह द्वारा ही प्राप्य है जिस भक्त पर ईश्वर की कृपा नहीं है उसे पुष्टिमार्ग मे रूचि ही नही उत्पन्न हो सकती । वल्लभाचार्य जी का विचार है कि "कृपा परिज्ञानं च मार्गरूच्या निश्चीयते "[46]

उपरोक्त तीनो मार्ग साधक की सुगमता के लिए ही निर्धारित किये गये है । इन मार्गों के विषय में आचार्य वल्लभ "पुष्टिप्रवाहमर्यादा भेद" मे कहते हैं कि " प्रवाह की उत्पत्ति भगवान् के मन से हुई है और यह व्यामोह बहुल है, मर्यादा की उत्पत्ति उनकी वाणी से हुई है, अत वह वेदपरक

---

46. तत्वदीप निबन्ध

है तथा पुष्टि की सृष्टि श्रीहरि के आनन्दकाय से हुई है इसलिए वह रसपूरित और प्रेमात्मक है । "[47]

मर्यादा भक्ति -

"ईश्वरानुग्रह से प्राप्त होनेवाली यह भक्ति द्विविध है - प्रथम मर्यादा भक्ति इसमे साधन की अपेक्षा होती है । यह "मर्यादायां हि श्रवणादिभि. पापक्षये प्रेमोत्पत्ति· ततो मुक्ति· [48] रूप का होता है । जप, पूजन, नामसकीर्तन रूप साधनो के अभ्यास से पाप का क्षय होता है और ईश्वर के अनुराग में वृद्धि होती है । इस भक्ति से धर्म अर्थ, काम और मोक्ष फल प्राप्त होते हैं । इस तरह हम यह कह सकते हैं कि इसमे भक्त के हृदय मे फलाकांक्षा बनी रहती है । इस भक्तिमार्ग का अवलम्बन करने से अक्षर-ब्रह्म प्राप्त होता है ।

पुष्टि भक्ति -

द्वितीयाभक्ति को पुष्टिभक्ति कहते हैं । यह साधन -सापेक्ष नहीं होती । इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि यह निष्काम भावना पर आधारित होती है, इसमे फलाकाक्षा शेष नहीं रहती ।

साधन - एव साध्य भक्ति -

इस प्रकार वल्लभाचार्य जी का रूझान साधन एव साध्य दोनो ही

---

47. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन
डा0 राजलक्ष्मी वर्मा

48 भक्तिमार्त्तण्ड, गोपेश्वर, पृ0 152

प्रकार की भक्तियो की ओर है किन्तु उनके मत मे साधनभक्ति का लक्ष्य ज्ञान अथवा मुक्ति नही है " अपितु पूर्णप्रेम की अवस्था को प्राप्त करना ही उनका मुख्य ध्येय है। "[49]

वल्लभाचार्य जी ने श्रीमद्भागवत महापुराण में वर्णित नवधाभक्ति[50] श्रवण कीर्तन, विष्णुस्मरण, पादसेवन, अर्चन वन्दन, दास्यभाव, सख्यभाव और आत्मनिवेदन को साधन भक्ति के रूप मे प्रमुख रूप मान्यता दी है।

द्वितीयतः वर्णित साध्यभक्ति मात्र भगवद्-अनुग्रह से प्राप्त होती है। इस भक्ति को आचार्य ने "पराभक्ति" का नाम दिया है। "पराभक्ति" पुष्टि भक्ति ही है। यह उस अवस्था का नाम है जब भक्त ध्येयस्वरूप पुरूषोत्तम की निष्काम भाव से भक्ति करने वाला मुक्ति की कामना से भी रहित होताहै वह तो अपने आराध्य श्रीकृष्ण की चरणवन्दना तथा उनके प्रति निष्काम प्रेम समर्पित करने का इच्छुक होता है।

पुष्टि-भक्ति का अधिकारी वही होता है जिस पर भगवान् का अनुग्रह हो। वल्लभाचार्य की पुष्टि भक्ति विषयक यह धारणा सर्वथा-नवीन उद्भूतमार्ग नहीं है उन्होंने तो इसे मात्र एक नवीन कलेवर प्रदान किया है।

इस प्रकार " प्रमेयरत्नार्णवकार" के शब्दों में हम पुष्टिमार्ग के अधिकारी का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं - " पु[illegible]र्यफलदित्सा-

---

49. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त - डॉ0 रा[illegible]रना सुखवाल

50. भागवत पुराण, 7/5/23

समुद्भूत- भगवत्कृपाजन्यपुष्टिमार्गविषयक रूचिमान् अधिकारी ।" [51]

उपनिषद्-ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं "अनुग्रह" के द्वारा ब्रह्मज्ञान होने की चर्चा पायी जाती है, यथा-

"नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनू स्वाम् ।" [52]

" इसके आधार पर यह निश्चित होता है कि भगवत्स्वरूप के ज्ञान और तज्जन्य भक्ति का अधिकारी वही है जिसका भगवान् आत्मीय रूप से "वरण " करते हैं । ....... . ....... .. भगवत्स्वरूप की प्राप्ति जीवप्रयत्नसाध्यसाधनों से असंभव है केवल "भगवद्वरण" ही एकमात्र उपाय है । "[53]

यही बात वल्लभ वर्णित पुष्टिभक्ति अथवा मार्ग पर भी लागू होती है । उनके अनुसार पुष्टिमार्ग मे ईश्वर का अनुग्रह ही नियामक है "अनुग्रहः पुष्टिमार्गेनियामक इति स्थितिः ।"[54]

महान् विद्वान् हरिराय ने पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण की प्राप्ति का साधन भगवद् अनुग्रह ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार"जहाँ पर लौकिक एवं

---

51. प्रमेयरत्नार्णव
52. कठोपनिषद् 1/2/23
53. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन- डा0 राजलक्ष्मी वर्मा
54. सिद्धान्तमुक्तावली, श्लोक 18

अलौकिक सकाम एवं निष्काम साधनों का राहित्य ही भगवद्प्राप्ति में हेतु है उसे ही पुष्टिमार्ग कहते हैं ।-55

श्रीमन् वल्लभाचार्य ने उपनिषदों मे वर्णित परब्रह्म को ही पुष्टि भक्ति का चरमलक्ष्य परब्रह्म पुरूषोत्तम के रूप मे स्वीकार किया है किन्तु साधना का आधार ज्ञान के स्थान पर शुद्ध प्रेम को माना है । भक्त का भगवद्स्वरूप के प्रति जितना अधिक प्रेम बढ़ता जाता है लौकिक आकांक्षा एवं तृष्णा से आसक्ति कम होती जाती है। जब भक्त पूर्णतः निष्काम प्रेम के मार्ग पर अग्रसर हो जाता है तब वह स्वयं को ईश्वरार्पित कर देता है। भक्त अथवा साधक का यह पूर्ण समर्पण ही पुष्टिमार्ग पर उसका प्रथम कदम अर्थात् आरम्भ है और पुरूषोत्तम के स्वरूप का अनुभव तथा लीलासृष्टि में प्रवेश होना ही लक्ष्यान्त है । पुष्टिमार्ग के साधक के लिए सर्वप्रथम अपेक्षा भगवत् अनुग्रह ही है।

पुष्टि -भक्तिके प्रकार -

वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टिभक्ति मे भगवत् सेवा का स्थान महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार श्रीकृष्ण की सेवा हेतु है और पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण की स्वरूप प्राप्ति ही साध्य है।

साधन-निरपेक्ष पुष्टिभक्ति चार प्रकार की होती है -प्रवाहपुष्टि भक्ति, मर्यादापुष्टि भक्ति, पुष्टिपुष्टिभक्ति तथा शुद्ध पुष्टि भक्ति । प्रवाह पुष्टिभक्ति मे भक्त अहंभाव से युक्त होकर इस नश्वर संसार को ही प्रधान मानकर भगवद्उपयोगी कर्म में प्रवृत्त रहता है।

55. पुष्टिमार्गलक्षणानि हरिरायवाङ्मुक्तावली भाग 1, नडियार, श्लोक 1

मर्यादापुष्टि भक्ति मे भक्त संसार की रागात्मक प्रवृत्तियों की आसक्ति का त्यागकर, भगवत्कथा श्रवण एवं मनन में ध्यान लगाता है ।

तृतीय प्रकार की पुष्टिपुष्टि भक्ति मे ईश्वर का अनुग्रह भक्त को प्राप्त होता है । "पुष्टिपुष्टि भक्ति मे भक्त [illegible] ज्ञान द्वारा तत्वचिन्तन करके भगवान् के नानाविधानो का ज्ञान प्राप्त करते हैं ।"[56]

शुद्धपुष्टिभक्ति प्रेमप्रधान भक्ति है। भक्त ईश्वराराधन अभ्यासवश स्वत ही करता रहता है । इस भक्ति को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यह भक्ति की चरमावस्था है। वल्लभमत में यही पराभक्ति है - "भक्ति पराप्रेमलक्षणा।"[57] "पुष्टिभक्ति में नवधा-भक्ति का जो अन्तिम सोपान "आत्म निवेदन" है वही इसकी प्रथम अपेक्षा है।"[58]

इस प्रकार महाप्रभु वल्लभाचार्य द्वारा उनकी भक्तिसम्बन्धी विचारधारा न केवल दार्शनिक दृष्टि से अपितु व्यावहारिक दृष्टि से भी उत्तम है । वल्लभाचार्य 15 वीं शती के महान् दार्शनिक एव विचारक थे । उन्होंने एक ओर "शुद्धाद्वैत" जैसा सैद्धान्तिक दार्शनिक मतवाद स्थापित किया वहीं दूसरी ओर जन सामान्य के लिए श्रीकृष्ण की भक्ति के मार्ग को प्रदर्शित किया । पुष्टि भक्ति एवं पुष्टिमार्ग मे दीन-हीन-निर्धन, समस्त

---

56. वल्लभसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त
-डॉ0 राधारानी सुखवाल

57. सुबोधिनी 1/2/42

58. आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन-
डॉ0 राजलक्ष्मी वर्मा

वर्णो के बालक युवा, वृद्ध स्त्री पुरूष अपने चरम लक्ष्य लीलाधारी पुरूषोत्तम को प्राप्त कर सकते हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है -

'पुष्टिमार्ग मे आने के लिए सबसे पहली आवश्यक बात यह है कि लोक और वेद दोनो के प्रलोभन से दू र हो जाये, उन फलो की आकाक्षा छोड़ दे, जो लोक का अनुसरण करने से प्राप्त होते हैं तथा जिनकी प्राप्ति वैदिक कार्यों के सम्पादन द्वारा कही गयी है। यह तभी हो सकता है जबकि साधक अपने को भगवान् के चरणो मे समर्पित कर दे इस समर्पण से इस मार्ग का आरभ होता है और पुरूषोत्तम भगवान् के स्वरूप का अनुभव और लीला सृष्टि मे प्रविष्ट हो जाने पर अन्त ।"[59]

अतएव सुबोधिनीकार के शब्दो मे हम कह सकते हैं कि "लौकिक वैदिक मार्गापेक्षया पुष्टिमार्ग· उत्कृष्टः । "

मोक्ष विषयक धारणा -

समस्त सिद्धान्तों का विवेचन कर चुकने के पश्चात् एक अन्तिम एव सर्वोत्कृष्ट तथ्य का वर्णन, शेष रह गया है वह है मोक्ष, "मोक्ष" का तात्पर्य है सांसारिक बन्धनो एव कष्टो से जीव की विनिर्मुक्ति ।

वल्लभाचार्य जी के अनुसार मुक्ति का मुख्य साधन भक्ति है, तथापि वह ज्ञानमार्ग की स्थिति भी स्वीकारते हैं। माया के बन्धन में

---

59. सूरदास, पं0 राम चन्द्र शुक्ल,
पृ0 101, 102 द्रष्टव्य

ग्रस्त जीव ईश्वर की कृपा के बिना मोक्ष प्राप्त नही कर सकता ।

ईश्वर की भक्ति ही चरम-साध्य है इस भक्ति के समक्ष स्वर्ग, अपवर्ग सब कुछ तुच्छ हैं । वल्लभाचार्य यह मानते हैं कि जीव का एकमात्र साध्य परब्रह्म श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति है। पुष्टिमार्ग मे भक्त को सर्वोत्कृष्ट माना गया है । जीव का " उच्चतम लक्ष्य मोक्ष नही है वरन् कृष्ण की निरन्तर सेवा है तथा दिव्यलोकस्थ वृन्दावन की लीलाओ मे भाग लेना है। " [60] शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे तीन तरह के साधक माने गये हैं । ज्ञानी, मर्यादामार्गी तथा पुष्टिमार्गीय भक्त । इन तीनो को क्रमश अक्षर सायुज्य, कृष्ण सायुज्य तथा अलौकिक सामर्थ्य या लीला प्रवेश ये तीन फल प्राप्त होते हैं ।

वल्लभाचार्य जी कहते हैं कि भगवत्प्राकट्य होने पर पुष्टिमार्गीय जीव की तत्क्षण मुक्ति हो जाती है उन्हें प्रारब्ध भोग नही भोगना पड़ता । जबकि मर्यादा भक्तो एवं ज्ञानियों के प्रारब्ध भोग आवश्यक होने के कारण उन्हे ब्रह्म प्राप्ति के लिए प्रारब्ध भोग समाप्ति तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। किन्तु पुष्टिमार्गीय भक्तों के प्रारब्ध एव सचित कर्मो का नाश भोग के बिना ही हो जाता है । [61]

---

60. डा० राधाकृष्णन् - भारतीय दर्शन भाग 2,
पृ० 666

61 अणुभाष्य 4/1/17 द्रष्टव्य

इस अध्याय में वर्णित विचारधाराओं का संक्षिप्त आकलन इस प्रकार है - माया ब्रह्म की कार्यकरणात्मिका शक्ति है। जिस प्रकार अग्नि की दाहकता उससे अलग नही होती उसी प्रकार माया को ब्रह्म से पृथक् नही माना जा सकता ।

इस सृष्टि का हेतु एवं कर्त्ता ब्रह्म है। वह इस जगत् का "अभिन्ननिमित्तोपादानकारण " है । शुद्धाद्वैत दर्शन मे वस्तु की उत्पत्ति एव नाश नही मानते, बल्कि वह मानते हैं कि वस्तु सर्वदा विद्यमान रहती है, उसका समयानुसार आविर्भाव एवं तिरोभाव होता है । आविर्भाव एव तिरोभाव ब्रह्म की दो शक्तियाँ है। यह सृष्टि ब्रह्म का वास्तविक परिणाम है, किन्तु सृष्टि के रूप मे परिणमित होने पर भी ब्रह्म विकारग्रस्त नही होता क्योंकि वल्लभाचार्य मानते हैं कि सुवर्ण से कुण्डलादि बनाने पर जैसे सुवर्णखण्ड विकृत नही होता उसी प्रकार ब्रह्म सृष्टि रूप मे परिणमित होने पर भी विकृत नहीं होता ।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय में जगत् एव ससार को पृथक्-पृथक् माना जाता है । जगत् सत्य है किन्तु अविद्या का कार्य होने से ससार असत्य है । प्रापचिक विचित्रता का कारण ईश्वर की इच्छा है।

ब्रह्मात्मैकत्व की प्राप्ति के लिए ज्ञान, कर्म एवं भक्तिमार्ग साधन हैं किन्तु वल्लभाचार्य के कथनानुसार "भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वसुगम है। " इस भक्ति मार्ग कोही उन्होनें "पुष्टिमार्ग" का नाम दिया ।

"पुष्टि" का अर्थ है पोषण का तात्पर्य हुआ भगवदनुग्रह । शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय मे तीन तरह के साधक माने गये हैं - ज्ञानी, मर्यादामार्गी, तथा पुष्टिमार्गीय भक्त । इन तीनो को क्रमशः अक्षर-सायुज्य कृष्ण-सायुज्य तथा अलौकिक सामर्थ्य या लीला प्रवेश ये तीन फल प्राप्त होते हैं । पुष्टि मार्ग मे भक्त को सर्वोत्कृष्ट माना जाता है।

भगवत्प्राकट्य होने पर पुष्टिमार्गीय जीव की तत्क्षणमुक्ति हो जाती है, उन्हे प्रारब्ध भोग नही भोगना पड़ता जबकि मर्यादा भक्तों एव ज्ञानियो के लिए प्रारब्ध भोग आवश्यक होने के कारण उन्हे ब्रह्म-प्राप्ति अर्थात् मुक्ति प्राप्ति के लिए तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक प्रारब्ध भोग नहीं हो जाता ।

# सप्तम - अध्याय

## उपसंहार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे विट्ठ[illegible] के दार्शनिक -सिद्धान्तो की समीक्षात्मक अ[illegible] प्रस्तुत की गयी । पूर्वलिखित समस्त अध्यायों के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीति होती है कि विट्ठलेश्वर की वर्णन-शैली नैयायिको की खण्डन-मण्डन शैली के सदृश है।

श्री विट्ठलनाथ शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के एक प्रमुख आचार्य थे, उनकी प्रवृत्ति स्व-सिद्धान्त स्थापन की नही थी, उनकी भूमिका एक पूरक की थी उन्होंने सर्वत्र अपने पिता श्री आचार्य वल्लभ के सिद्धान्तो का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया तथा जिन विषयो पर आचार्य वल्लभ चर्चा शुरू ही कर पाये थे अथवा अधूरा छोड़ गये , उन्हें पूर्ण करने का कार्य विट्ठलेश्वर ने किया । अतएव सिद्धान्त तो वही हैं जिनको वल्लभाचार्य जी ने स्थिर किया था विट्ठलेश्वर ने तो मात्र दृढ़ीकरण का कार्य किया ।

वैष्णव वेदान्त दर्शन के महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायों में से एक शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय है । वैष्णव-वेदान्तियों की यह एक सामान्य प्रवृत्ति थी कि उन्होंने एक स्वर में अद्वैतवादी शंकराचार्य के सिद्धान्तों का खण्डन किया और अपने-अपने मतवादो का दृढ़ीकरण " अद्वैतवाद" की तुलना मे श्रेष्ठ मानते हुए किया।

समस्त दार्शनिकों के बीच मत-वैभिन्य तत्व को लेकर नही है, अपितु तत्व के स्वरूप को लेकर है, जहाँ शंकराचार्य ने परमतत्व को निर्गुण एव निर्विशेष कहा है, वही वैष्णव-वेदान्तियो ने परमतत्व के रूप मे सगुण, सविशेष पूर्ण विग्रह-वान पुरूषोत्तम श्री कृष्ण की कल्पना को साकार किया।

शंकराचार्य के निर्गुण एव निर्विशेष ब्रह्म की स्थापना के विरोध का एक महत्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारण था कि एक सामान्य मानव इस अतीन्द्रिय , अगोचर निर्गुण ब्रह्म का साक्षात्कार करने मे समर्थ नही हो सकता क्योकि वह आध्यात्मिक चेतना के स्थूलतम स्तर पर रहता है जहाँ उसके लिए चरम सत्य का साक्षात्कार करना एक दुष्कर कार्य है । एक साधारण व्यक्ति को तो चरम सत्य के बौद्धिक विश्लेषण से रन्चमात्र भी सान्त्वना नहीं प्राप्त हो सकती, वह साधना के उस सूक्ष्मतम स्तर तक आत्मनिष्ठ नही हो सकता, उसकी अन्तश्चेतना को उस चरम तत्व से जोड़ने के लिए एक साकार माध्यम की आवश्यकता है, वैष्णव दार्शनिकों ने इसी कमी को पूरा किया पूर्ण पुरूषोत्तम की कल्पना करके । ईश्वर ही वह माध्यम है जो मानवीय न होते हुए भी मानवीय संवेदनाओं की परिधि में रहता है। "ईश्वर" न केवल एक सम्बन्ध सेतु है अपितु स्वयं एक चरम सत्य भी है।

अतएव वैष्णव-वेदान्तियो की दार्शनिक मान्यताये शकराचार्य की मान्यताओं से अत्यन्त भिन्न थी वे मानते हैं कि ब्रह्म सविशेष है,

जीव नित्य एव अणु है तथा सृष्टि सत्य है और माया ब्रह्म की शक्ति है।

इस प्रकार शुद्धाद्वैतवादी श्री विट्ठलेश्वर के ग्रन्थ विद्वन्मण्डनम् का प्रारभ ही ब्रह्म के सविशेषत्व रूप के निर्धारण से होता है।

वल्लभाचार्य एव विट्ठलेश्वर दोनो ही श्रुति से प्रभावित हैं इन दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है कि वल्लभाचार्य खण्डन मण्डन की ओर से प्राय उदासीन हैं श्रुति पर उनकी अगाध श्रद्धा है, जबकि विट्ठलाचार्य के विचार श्रुतिमूलक तो हैं ही तर्कमूलक भी हैं। विट्ठलेश्वर की तीक्ष्ण तार्किकता तथा विषय-सम्पादन के प्रति उनकी प्रतिबद्धता विद्वन्मण्डनम् मे दृष्टिगत होती है।

विद्वन्मण्डन " मे विट्ठलेश्वर ने मुख्य रूपसे अद्वैत वेदान्त, न्याय एव वैशेषिक के कतिपय सिद्धान्तो का खण्डन प्रस्तुत किया है।

श्रुतियो ब्रह्म को निर्विशेष एव सविशेष दोनों कहती हैं एक ओर तो "असगमस्पर्शमगन्धमरसम्" कहा जाता है वहीं दूसरी ओर "सर्वकाम"सर्वगन्धः सर्वरसः। शकराचार्य ब्रह्म को निर्गुण एव निर्विशेष स्वीकार करते हैं। जबकि विट्ठलेश्वर की यह मान्यता है कि निर्विशेष ब्रह्म की प्रतिपादिका श्रुतियाँ गुणाधार भूत ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करती हैं और गुणबोधिका श्रुतियाँ उसमे गुणो का बोध कराती है। इन द्विविध प्रकारिका श्रुतियों के मध्य परस्पर उपजीव्योपजीवकभाव नही है अपितु

दोनों ही अपने -अपने विषयों का वर्णन करने मे स्वतंत्र हैं । ब्रह्म मे गुण विबोधन का तात्पर्य है कि वह दिव्य गुणों से युक्त है तथा निर्गुण त्व का अर्थ है कि ब्रह्म मे लौकिक अर्थात् प्राकृत गुणो का अभाव है। "प्रकृतैतावत्व प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय " 3/2/22/ सूत्र से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि श्रुतियाँ ब्रह्म मे प्रापंचिक धर्मों का निषेध करती हैं । किन्तु श्रुति ब्रह्म के अलौकिक गुणो का निषेध कदापि नहीं करती ।

श्री विट्ठल यह मानते हैं कि ब्रह्म का सगुणत्व एवं निर्गुणत्व दोनो सत्य है । निषेधात्मक एवं सकारात्मक श्रुतियों के मध्य अन्विति बैठाने के लिए उन्हें किसी "उपाधि" की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

अतएव ब्रह्म का सविशेषत्व युक्ति एव श्रुति दोनो ही दृष्टियो से विट्ठलेश्वर ने अत्यन्त कुशलता पूर्वक सिद्ध किया है । विट्ठलेश्वर ने शुद्ध एव निर्गुण ब्रह्म को ही सृष्टि-कर्त्ता स्वीकार किया है । वल्लभाचार्य जी ने भी "हेयत्वावचनाच्च" 1/1/7 पर भाष्य करते हुए कहा है कि निर्गुण ब्रह्म ही जगत्कर्त्ता है क्योंकि वेदान्त में जहाँ साधनो का उल्लेख किया गया है वहाँ जगत्कर्त्ता को पुत्रादि को तरह हेय रूप से प्रदर्शित नही किया गया है। " सृष्टिकर्त्ता को गौण स्वीकार करने पर उसकी उपासना करने वाला संसार को ही प्राप्त करेगा मोक्ष को नहीं ।

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय में "परब्रह्म" को "विरूद्धधर्माश्रयी" माना गया है। यह इस दार्शनिक प्रस्थान की एक महत्वपूर्ण विशेषता है । वल्लभाचार्य एवं विट्ठलेश्वर दोनो ने ही ब्रह्म मे परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय उसे विरूद्धधर्माश्रयी मानकर किया है। "विद्वन्मण्डनम् " में

ब्रह्म के विरुद्धधर्माश्रयत्व" का वर्णन पृथक् रूप से नहीं किया गया है, अपितु जहां तार्किक विवेचन मे असगति दिखलाई दी हैं, वही उन्होंने "विरुद्ध-धर्माश्रयत्व" का सहारा लेकर ब्रह्म मे विपरीतार्थक धर्मों की अन्विति बैठायी है। ब्रह्म को विरुद्ध धर्मों का आश्रय मानकर उन्होंने उसकी परिधि असीमित कर दी है जिसके कारण उसका कर्तृत्व, अकर्तृत्व, व्यापकत्व एव परिच्छिन्नत्व सभी विरोधी बातो का एक साथ समावेश हो जाता है।

श्री विट्ठलेश्वर यह मानते हैं कि ब्रह्म दृश्य है किन्तु वह आविधक इन्द्रियो के द्वारा नही देखा जा सकता, किन्तु जब ईश्वर की कृपा हो जाती है तब उसे देखा जा सकता है।

शुद्धाद्वैत दर्शन पर श्रीमद्भागवतपुराण का प्रभाव सर्वातिशायी है, वल्लभाचार्य तथा उनके परवर्ती समस्त विद्वान् भागवत-पुराण के सिद्धान्तो के अनन्य-पोषक थे । शुद्धाद्वैतदर्शन का जो क्रियात्मक स्वरूप "पुष्टि-मार्गीय उपासना का है वह भागवत-पुराण मे वर्णित श्रीकृष्ण भक्ति" का ही परिबर्द्धित एवं परिमार्जित स्वरूप है।

श्री विट्ठलेश्वर ने ब्रह्म की लीला का वर्णन विद्वन्मण्डनम् मे अत्यधिक विस्तार से किया है उनकी लीला-विषयक-धारणा अभूतपूर्व है। इस क्षेत्र मे उनके जैसा योगदान अन्य किसी आचार्य का नही है, यहा तक कि वल्लभाचार्य ने भी लीला का वर्णनइतनी तन्मयता एव विस्तार से नहीं किया है। श्रीविट्ठल न केवल एक शास्त्रज्ञ आचार्य थे बल्कि नवनीत

प्रिय जी के परम भक्त थे । उनकी भक्ति प्रेम-विह्वला थी, किन्तु इससे उनका आचार्यत्व प्रभावित नही होता ।

ब्रह्म के अवतार रूप में परिणत होने की भावना एक मनोवैज्ञानिक तुष्टिकरण की भावना थी । जिसका प्रारम्भ रामानुज ने किया, इसका भी कारण था सामान्य मानव उपनिषदो के इन्द्रियातीत ब्रह्म का सन्निकर्ण करने में जब सफल न हो सका तब वह एक ऐसे साकार सम्बल की आवश्यकता का अनुभव करने लगा जो उसके कष्टों का निवारण करने के लिए साक्षात् रूप से प्रस्तुत हो सके । शंकराचार्य के दर्शन ने बुद्धिवादी आचार्यों को भले ही [illegible] प्रदान की परन्तु साधारण जन के लिए वह मुक्ति का मार्ग अनावृत न कर सका । अतएव इसकी प्रतिक्रियास्वरूप रामानुज का ईश्वरवादी दर्शन उद्भूत हुआ । रामानुज ने साकार ब्रह्म की उपासना का मार्ग ऊँच, नीच धनी, गरीब सबके लिए खोल दिया । रामानुज की विग्रहवान् ईश्वर की परिकल्पना को शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य ने भी अपनाया ।

वल्लभाचार्य ने पुष्टिभक्ति के द्वारा समाज के समस्त वर्गों जातियों तथा आयु के व्यक्तियो को ईश्वर भक्ति का आमन्त्रण दे डाला । उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता के उस महान् श्लोक -

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरण व्रज ।
अह त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि, मा शुचः ।।"

को माध्यम मानकर पूर्ण परब्रह्म पुरूषोत्तम की भक्ति का मार्ग सबके लिए प्रदर्शित किया। उन्होंने "पुष्टिमार्ग" की स्थापना की किन्तु उसकी सेवा पद्वति का विकास विट्ठलेश्वर ने किया।

विट्ठलनाथ ने शुद्धाद्वैत दर्शन के सविशेष ब्रह्म को व्यावहारिक रूप में लीलाधारी श्रीकृष्ण के रूप मे प्रतिष्ठित किया। वह कहते हैं कि श्रीकृष्ण पूर्ण परब्रह्म हैं और उनकी लीला वास्तविक है। श्री विट्ठल कहते हैं कि जैसे ब्रह्म नित्य हैं वैसे ही उनके अवतार भी नित्य हैं, जब भगवान् सतोगुण को आश्रय बनाकर प्रकट होते हैं, तब वह "अंशावतार" कहे जाते हैं, लेकिन जब श्रीकृष्ण सत्वादि का आश्रय न लेकर पूर्ण सच्चिदानन्द के रूप मे प्रकट होते हैं तब वह "पूर्णावतार" कहलाता है।

श्री विट्ठल यह मानते हैं कि जैसे ब्रह्म की लीला नित्य है वैसे ही गोकुलादि लीलास्थल भी नित्य हैं। वह स्पष्ट रूप से यह उद्घोषणा करते हैं कि भगवान् का अनुग्रह जिस पर हो जाये, वह चाहे उच्चकोटि का हो अथवा निम्न कोटि का, उसे ईश्वर की नित्य लीला मे प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। गीता मे श्रीकृष्ण ने कहा है कि -

" ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैवभजाम्यहम् "

अर्थात् सर्वात्म भाव से अर्चना करने वालो को नित्य लीला मे प्रवेश प्राप्त होता है। भगवान् की सभी लीलाये नित्य है "लीला" का

तात्पर्य है " अभिनय " । ईश्वर का विग्रह पञ्च महाभूतो से बना हुआ नही है बल्कि "आनन्द" ही उनका विग्रह है, वह पूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, इसलिए उनका विग्रह नित्य है।

विट्ठलेश्वर भी वल्लभाचार्य की तरह सृष्टि को सत्य मानते हैं, माया ब्रह्म की उपाधि नही अपितु कार्यकरणात्मिका शक्ति है। अपनी कार्यकरणात्मिका शक्ति के द्वारा ब्रह्म सृष्टि के रूप मे परिणमित होता है यहाँ दूध से दही रूप का विकृत परिणामवाद नही होता बल्कि सुवर्ण से कुण्डलादि की तरह अविकृत परिणामवाद होता है । सृष्टि की उत्पत्ति एव नाश नही होता बल्कि आविर्भाव एव तिरोभाव होता है । शुद्धाद्वैतवादी साख्य सम्मत सत्कार्यवाद के पोषक हैं, विट्ठलेश्वर ने साख्य दार्शनिको के सत्कार्यवाद के सिद्धान्त का नामोल्लेख विवेच्य ग्रन्थ विद्वन्मण्डनम् मे किया है । किन्तु यह ध्यातव्य है कि सांख्य सत्कार्यवाद एव शुद्धाद्वैतियो के सत्कार्यवा मे एक महत्वपर्ण अन्तर है, साख्य दार्शनिक प्रकृति एव पुरूष के सयोग से इस सृष्टि का आविर्भाव मानते हैं जबकि शुद्धाद्वैतियों के अनुसार ब्रह्म ही इस सृष्टि का समवायि, निमित्त एव साधारण कारण है।

एक से अनेक होने के क्रम में ब्रह्म की अभिव्यक्तियाँ इस प्रकार हैं - अक्षर, अन्तर्यामी ,जीव, जड़, काल, कर्म तथा स्वभाव ।

ब्रह्म अपने सत् चित् एव आनन्द अश मे से जब आनन्दांश को तिरोहित कर लेता है तब जीव की अभिव्यक्ति होती है, और वह चिदानन्द

को तिरोभूत कर लेता है तब जड की अभिव्यक्ति होती है । विट्ठलेश्वर ने विद्वन्मण्डनम् मे शकराभिमत प्रतिबिम्बवाद, आभासवाद तथा अध्यारोपवाद का खण्डन किया है। तथा अशाशि भाव और जीव के अणुत्व की परिकल्पना को तर्कों के माध्यम से स्थायित्व प्रदान किया है।

विट्ठलेश्वर ने पूर्वपक्ष , वह चाहे कोई भी हो के सिद्धान्तो का खंण्डन न केवल लौकिक तर्कों के माध्यम से किया है अपितु श्रुतिमूलक तर्कों का आश्रय भी लिया है।

वह मानते हैं कि जीव भाव औपाधिक एव मिथ्या नही है अपितु सत्य है, उसकी सत्यता ब्रह्म से रन्च मात्र भी कमनही है । शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय की जीव विषयक मान्यता का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यद्यपि ब्रह्म एवं जीव एक ही हैं किन्तु जीव की वैयक्तिकता अन्त तक बनी रहती है , यहाँ तक कि मोक्ष की दशा मे भी जीव, जीवरूप में ही अवस्थित होता है, ब्रह्म से जीव की सूक्ष्म न्यूनता बनी रहती है इसका कारण है कि शुद्धाद्वैतमतवादी भक्ति भाव के अनन्य पोषक है, भक्ति की चरमावस्था मे भी उपास्य एव उपासक के मध्य किंचित् द्वैत की आवश्यकता है , वही सूक्ष्म अन्तर अन्त तक जीव एव ब्रह्म के बीच हर स्थिति मे बना रहता है। लेकिन इस अन्तर से यहनही समझना चाहिए कि शुद्धाद्वैत दर्शन में अद्वैतवाद" का इससे विरोध होताहै, बल्कि यह समझना चाहिए

शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे "तत्वमसि" महावाक्य के द्वारा जीव की ब्रह्मात्मकता सिद्ध की गयी है। यह ज्ञातव्य है कि जीव ब्रह्मात्मक है किन्तु स्वय ब्रह्म नही है, इस सम्प्रदाय से ब्रह्म एवं जीव के मध्य तादात्म्य भाव नही स्वीकार किया गया है, इन दोनो के बीच सदैव प्रत्येक स्तर पर द्वैत बना रहता है।

शुद्धाद्वैत दर्शन का सर्वाधिक विशिष्ट सिद्धान्त जीव को ब्रह्म का अश स्वीकार करना है । अशांशिभाव सिद्धान्त की पुष्टि के लिए मुण्डकोपनिषद् मे वर्णित "व्युच्चरण" श्रुति को प्रमाण मानते हैं जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि से उसी के स्वरूप वाली हजारो चिनगारियो निकलती हैं उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और उसीमे विलीन होजाते हैं ।

विट्ठलेश्वर ने "विद्वन्मण्डनम्" मे एक दृष्टान्त के द्वारा जीव का ब्रह्म के साथ अभेद एव भेद प्रकट किया है - " स यथा सैन्धव रिवल्य उदके प्रास्त उदकेमवानुलीयत" अर्थात् जैसे नमक जल मे डाल दिया जाये तो वह जल मे ऐसे घुल जाता है कि उसका जल से कुछ भी भेद नहीं ज्ञात होताहै, इसी तरह से जीव का ब्रह्म में लय होने के उपरान्त कुछ भी भेद नही मालूम होता किन्तु नमक का जल के साथ अत्यन्त अभेद नही होता है, अत्यन्त अभेद तभी हो सकता है जब नमक अपनी क्षारता का परित्याग करके जल ही हो जाये अथवा जल अपनी तरलता का परित्याग करके नमक का स्वरूप धारण करले । अतएव जैसे लवण एव जल का अत्यन्त अभेद नही

होता उसी प्रकार जीव एव ब्रह्म का भी अत्यन्त अभेद नही होता है ।

विट्ठलेश्वर के ब्रह्म जीव अंशांशि भाव तथा जीव के अणुत्व सम्बन्धी विचारधारा का विस्तृत विवेचन जीव सम्बन्धी अध्याय मे किया गया है ।

विट्ठल कहते हैं कि जीव अणु परिमाण वालाहै , जैसे सुगन्ध अपने धर्मी से अधिक देश मे रहता है उसी प्रकार जीव भी सकल शरीर में व्याप्त है ।

जगत् एवं ससार ब्रह्म की जडाभिव्यक्ति है। शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय मे जगत् को सत्य माना जाता है और ससार को मिथ्या । यह विचारधारा एक महत्वपूर्ण तथ्य है। वल्लभाचार्य जी यह मानते हैं कि जगत् उतना ही सत्य है जितना कि ब्रह्म किन्तु जब जीव ब्रह्म से प्रकट हुए इस जगत् मे द्वैत बुद्धि रखने लगता है तब यही द्वैतबुद्धि उसके ससार का निर्माण करती है ।

इस प्रकार ब्रह्म की अभिव्यक्तियॉ अनेक होने पर भी उसकी अद्वैत हानि नही होती वह एक एव शुद्ध अद्वैत तत्व बना रहता है।

शुद्धाद्वैत दर्शन का प्राण तत्व उसकी "पुष्टिभक्ति" है । जब तक इसका विवेचन न हो जाये तब तक सिद्धान्त को पूर्णत्व नहीं प्राप्त हो सकता । इस "पुष्टि-भक्ति" का आधार श्रीमदभागवत महापुराण है। "पुष्टि" अथवा

" पोषण" का अर्थ है " भगवदनुग्रह" । इस सम्प्रदाय मे भक्ति की महत्ता इतनी अधिक है कि इसे साधन एव साध्य दोनो ही रूपों में स्वीकार किया गया है । साधन के रूप में ज्ञान, कर्म, योग तीनों से श्रेष्ठ है, और साध्य के रूप में वह मोक्ष से भी श्रेयस्कर है।

वल्लभाचार्य जी यह स्वीकार करते हैं कि सर्वोच्च मुक्ति ज्ञान से नहीं अपितु भक्ति से प्राप्त होती है, भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वसुगममार्ग है ।

इस प्रकार शुद्धाद्वैत दर्शन के प्रवर्तक वल्लभाचार्य तथा उनके सिद्धान्तो के पोषक विट्ठलाचार्य के विचारो का गहन अनुशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो की आधार-शिला प्रस्थानत्रयी तथा भागवतपुराण हैं । उनके द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों के प्रमुख तत्व इस प्रकार हैं -

1- ब्रह्म का सविशेषत्व, सच्चिदानन्दरूपत्व उसका अलौकिक कर्तृत्व, अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व अविकृतपरिणामवादत्व तथा विरुद्धधर्माश्रयत्व ।

2- ब्रह्म की लीला वास्तविक है, अवतार भगवत् स्वरूप है, लीला स्थान नित्य हैं ।

3- जीवका अंशांशिभाव, अणुत्व, नित्यत्व ।

4- जगत् का सत्यत्व तथा ससार का मिथ्यात्व ।

" विद्वन्मण्डनम् " मे कलापक्ष की क्लिष्टता के दर्शन होते हैं विट्ठलनाथ ने न्याय वैशेषिक की नीरस शैली का अनुकरण किया है एक भक्ति प्रधान सम्प्रदाय के महान् आचार्य के भक्ति परक ग्रन्थ में जैसे भावना प्रवण वर्णन की अपेक्षा की जाती है उसका पूर्णतया अभाव है यहाँ पर ।

इसके अतिरिक्त विट्ठलेश्वर ने शुद्धाद्वैत दर्शन के सहत रूप का वर्णन नही किया है।

यद्यपि की अनेकानेक अनुपपत्तियो दृष्टिगत होती है, तथापि "विद्वन्मण्डनम्" की गणना "अणुभाष्य "जैसे महान् ग्रन्थ की श्रेणी मे की जाती है। गुण-एव दोष एक सिक्के के दो पार्श्व है कोई भी सिद्धान्त एवं कोई भी पुरूष अपने आप में पूर्ण नहीं है।

विट्ठलेश्वर ने स्वंय ही "विद्वन्मण्डनम्" की विवेचना की समाप्ति के समय कहा है कि - किसी भी सिद्धान्त की प्रामाणिकता उसका सम्मान करने वालो के अधीन अथवा आश्रित नही है। संसार मे ऐसा कोई सिद्धान्त नही है जिसका सम्मान सभी करते हों । अत• आदर करने वालो कीसख्याकम होने के कारण यह नही समझना चाहिए कि सिद्धान्त मे कोई कमी है ।

श्री विट्ठल स्पष्ट शब्दो मे कहते हैं कि हमारा यह सिद्धान्त सत्वगुण प्रधानजीवों के लिए है। जिस प्रकार लौह को सुवर्ण बनाने वाली " पारसमणि" पाषाण को सुवर्ण नहीं बनाती, किन्तु इससे मणि के स्वरूप में कोई कमी नहीं आती । इसी प्रकार यदि हमारा यह सिद्धान्त राजसिक

एव तामसिक जीवो को प्रभावित नही करता तो यह सिद्धान्त का दोष नहीं है।

इस प्रकार यह प्रपञ्च ब्रह्म स्वरूप है, ब्रह्म ही अपने स्वरूप भूत पदार्थों में अपने धर्मों को न्यूनाधिक आविर्भाव एव तिरोभाव करके इस विचित्र प्रपञ्च की रचना करता है।

कतिपय विद्वान् जो श्रुति, स्मृति का आश्रय लेकर इस विरूद्ध धर्माश्रयी ब्रह्म को सर्वधर्मशून्य निर्गुण तथा इसकी लीलाओ को अवास्तविक कहते हैं एव जगत् को मिथ्या कहते हैं, उसका हेतु है जगतान्तर्गत भगवन्मूर्ति भगवद्भक्त एवं भगवद्भक्ति को वे सहन नहीं कर पाते हैं। उनकी इस विपरीत चेष्टा में भीपरब्रह्म पुरूषोत्तम श्रीकृष्ण की इच्छा ही कारण है अतएव ऐसे विरोधियों के सम्बन्ध में विट्ठल और अधिक नही कहना चाहते उनका अनुराग तो उन भगवद्भक्तो से है जो पूर्वोक्त मार्ग के अनुसार ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को जानकर तत्प्राप्ति हेतु अपने को सर्वात्मना समार्पित कर दें। इस प्रकार "सर्वजन हिताय 'सर्वजन सुखाय" सेवा पद्धति का विस्तार करने वाला "शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय" एक श्रेष्ठ दार्शनिक सम्प्रदाय है।

# सहायक ग्रन्थ-सूची

अणुभाष्यम् (प्रथम एव द्वितीय खण्ड) - श्रीवल्लभाचार्य, विद्या विलास प्रेस, बनारस

श्री वल्लभ-वेदान्त (अणुभाष्य) - प्रस्तोता निम्बार्काचार्य ललित कृष्ण गोस्वामी, प्रकाशक श्री निम्बार्काचार्य-पीठ, 12 महाजनी टोला, प्रयाग

सुबोधिनी (टीका श्रीमद्भागवत पुराण) - श्री वल्लभाचार्य, चौखभा संस्कृत-बुक डिपो, बनारस

तत्वदीपनिबन्ध - श्री वल्लभाचार्य

(तत्वार्थ दीप निबन्ध) - (केदार नाथ मिश्र) भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी

पुष्टि-प्रवाह मर्यादा भेद (पीताम्बर प्रणीत व्याख्योपेत) - श्री वल्लभाचार्य, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

सिद्धान्त-मुक्तावली - श्री वल्लभाचार्य, निर्णय सागर प्रेस बम्बई

विद्वन्मण्डनम् - श्री विट्ठलनाथ, श्री वल्लभ-पब्लिकेशन्स दिल्ली

विद्वन्मण्डनम् की टीकायें -

- सुवर्णसूत्रम् - श्री पुरुषोत्तम जी
- हरितोषिणी - श्री गिरिधर जी
- गंगाधरभट्टी - भट्ट गंगाधर शास्त्री
- भक्तिहंस - श्री विट्ठलनाथ, निर्णय सागर प्रेस बम्बई

शुद्धाद्वैत-मार्त्तण्ड – गोस्वामी गिरिधर जी महाराज सम्पूर्णानन्द (वाराणसेय) संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

भक्ति-मार्त्तण्ड – गोपेश्वर जी महाराज, चौखम्भा-संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी

श्रीमद्भागवत-महापुराण – सम्पादक कृष्णशंकर शास्त्री, आचार्य मुद्रणालय, कर्णघटा, [illegible]

श्री भागवत सुधा-सागर – गीता प्रेस, गोरखपुर

प्रमेय रत्नार्णव – लालू भट्ट

पुष्टिमार्ग-लक्षणानि – हरिराय वाङ्मुक्तावली

श्वेताश्वतर-उपनिषद् –शंकराचार्य, गीता प्रेस, गोरखपुर

छांदोग्य-उपनिषद् – गीता-प्रेस गोरखपुर

मुण्डकोपनिषद् – गीता-प्रेस गोरखपुर

तैत्तिरीयोपनिषद् – गीता-प्रेस, गोरखपुर

शाण्डिल्य भक्तिसूत्र – श्री नारायण तीर्थ, गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी, बनारस

ऐतरेय उपनिषद् – गीता-प्रेस, गोरखपुर

कठोपनिषद्

श्रीमद्भगवद्गीता – गीता प्रेस, गोरखपुर

बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिक – श्री सुरेश्वराचार्य

लघु भागवतामृत - श्री रूपगोस्वामी

ब्रह्मसूत्रशांकर भाष्य - शंकराचार्य, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस ।

श्रीभाष्य - रामानुजाचार्य, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय ( भाग एक एवं दो ) - डा० दीन दयालु गुप्त, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन प्रयाग

वल्लभ-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त - डा० राधारानी सुखवाल, पण्डित राम प्रताप शास्त्री, चैरिटेबिल ट्रस्ट ब्यावर, राजस्थान

ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन - डा० रामकृष्ण आचार्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।

भक्ति का विकास - मुंशीराम शर्मा

सूरदास - प० रामचन्द्र शुक्ल

सटीक विद्वन्मण्डन का हिन्दी निष्कर्ष - श्री जगन्नाथ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

भागवत-सम्प्रदाय - श्री बलदेव उपाध्याय

वैष्णव साधना और सिद्धान्त - डॉ० भुवनेश्वर नाथ मिश्र "माधव"

ब्रजस्थ वल्लभ सम्प्रदाय का इतिहास - प्रभुदयाल मीतल, साहित्य संस्थान, मथुरा ।

| | | |
|---|---|---|
| कविवर परमानन्ददास और वल्लभ सम्प्रदाय | - | डॉ0 गोवर्धन नाथ शुक्ल, भारत-प्रकाशन मंदिर अलीगढ़ |
| आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन | - | डा0 राजलक्ष्मी वर्मा, इलाहाबाद-विश्वविद्यालय की डी0 फिल उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध । |
| दी फिलासफी ऑफ वल्लभाचार्या- | - | डॉ0 श्रीमती मृदुला मारफतिया, मुंशीराम, मनोहरलाल, दिल्ली |
| भारतीय-दर्शन (इण्डियन फिलासफी) ( भाग एक एवं दो ) | - | डॉ0 राधाकृष्णन्, लन्दन जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड। |
| भारतीय दर्शन का इतिहास (भाग तीन एवं चार) | - | डा0 सुरेन्द्र नाथ दास गुप्ता राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर- 4 |
| न्याय सिद्धान्त मुक्तावली | - | श्री विश्वनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी |
| सांख्य तत्व कौमुदी | - | वाचस्पति मिश्र |
| भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण | - | डा0 संगम लाल पाण्डेय |
| भारतीय दर्शन | - | डॉ0 उमेश मिश्र |
| भारतीय दर्शन का इतिहास | - | डा0 हिरियन्ना |
| भारतीय दर्शन | - | डॉ0 देवराज |

| | | |
|---|---|---|
| भारतीय आस्तिक दर्शन मे मायातत्व (प्रकाशित शोध पत्र) | – | श्रीमती आशा सिंह, कोसल, जर्नल ऑफ दि इण्डियन रिसर्च सोसायटी ऑफ अवध, , जनवरी 1982 एव 1983 |